बालकृष्णाय 'नव्यसे'

whose alone Ūrmilā was

क्षेमेन्द्र की औचित्य-दृष्टि

औचित्य-विचार-चर्चा

का

प्रामाणिक संस्करण तथा स्पष्टीकरण

रामपाल विद्यालकार

२९ फरवरी १९६० १८ फाल्गुन २०१६

सोम

शुक्ल तृतीया

A SECOND SENSE A RE-CRITICISM

Probably the most stimulating 'criticism of a critic' in the whole tradition of Indian Poetics one might come across and, then, such as is sure to strike a trail of suggestions even for us westerners Sanskrit scholiasts, you will excuse my first reaction, have yet to disabuse themselves of the superstition that Ksemendra's was just one of the so many Schools that were coming and going with the monsoons in mood I, for one, on the other hand feel—thanks to your re-touches with persistence reviving dead words in this masterly (the pithiest come my way over decades) thesis, I feel—that K by his new currency had meant Sense (*not just aesthetic sense or poetic sense*), a second sense—ucathasya navyah *which alone has the inquisitiveness* (*being not specialised-narrow*) *for looking beyond mere sensibilities*

sampradāyebhyo nir-vidya drnmayena tisthāset

And in that strain, now I realize how you read the clue to Ksememdra in the word for eyesalve wherewith he starts on his journey of sensitivities new Nor have you forgotten to tell us that this añjana too is secondary, equally secondary, *something suggestively implanted by Nature into a woman's dressing-room*

I propose an English version of your illuminating disquisition was made available for the non-Hindi world as well

—Aagaraard Boswen

(Another opinion on jacket-p 3)

प्रकाशक
मोतीलाल बनारसीदास
पटना

मुद्रक
स्वतन्त्र नवभारत प्रेस
पटना

आचार्य का अ-च्युत स्थायिभाव

औचित्य-बुद्धि

1 औचित्य हमारे क्रियाकल्प का, दैनिक जीवन का, अविभाज्य अग है। यह न हो, तो—कोई लोक-व्यवहार सरे नही, हमारी गतिविधि मे कही-भी कलात्मकता न आ सके, प्रकृति की निरन्त सुषमा मे हम सोन्दर्य-बोध से वञ्चित ही रह जायँ।

—औचित्य (प्रकृति की निरन्त) सुषमा मे स्थायी है।

2 वस्तु-जगत् के याथातथ्य को स्व-गत करने के लिए भी जिस अ-परिहेय दृष्टि-समता की अपेक्षा होती है वह भी बिना औचित्य-बुद्धि के असभव है। यह औचित्य-बुद्धि (अर्थात् विवेक-शीलता) मनुष्य का स्वभाव है, लक्षण है।

—औचित्य (अन्त प्रकृति की निरन्त) सुषमाऽनुभूति मे स्थायी है।

3 और—सुषमा और सुषमा-बोध के परिणय का नाम ही तो कला है।

यह औचित्य-बुद्धि तब भी सजग थी—जब कि (उस प्रथम-प्रभात मे) कला-बोध को अभी कोई शास्त्रीय रूप देने का प्रश्न ही मानव-मन मे नही उठा था, तब भी थी—जब कि अलकारशास्त्र के उपमादि तत्त्व अभी नाट्यशास्त्र का एक अमुख्य अग थे, तब भी—जब कि नाट्य तथा काव्य की अपनी-अपनी (यद्यपि उत्पत्ति की ऐतिहासिक दृष्टि मे कुछ सापेक्ष) स्व-तन्त्र, विनिश्चित, स्थिति बन गई, तब भी—जब कि, विकास की उत्तरोत्तरी मे, नाट्य-विकास, आपूर्ण, काव्यालकार मे क्रमश अन्तर्भुक्त होता गया, और तब भी—जब कि (उपादेशाय ग्लायन्तो अवरे), कविता के अलौकिक सोन्दर्य को कामिनी के नख-शिख[1] मे ही केन्द्रित-पुजित समझते हुए, हमारे 'आचार्य' अपनी आचार-बुद्धि से ही च्युत हो गये।

१ कान्ता-समिततया उपदेशयुजे।
साहित्य नाम—कान्ति, कान्तया-समिति, सह-नौ भाव।

—औचित्य कला मे स्थायी है।

I

क्षेमेन्द्र से पूर्व

4 कला के लिए ही हमारा सबसे पुराना नाम, शायद, अलकार था : अल-क्कार—अर्थात् (आन्तर) कल्पना की उसी के अनु-रूप, उचित रूप मे, (बाह्य) अभिव्यञ्जना, वस्तु की वि-लक्षणता को उभारने के लिए उसे कुछ साज-सवार (बस एक 'फिनिशिगटच'-सा कुछ) दे-देना।

लौकिक सस्कृत मे कलात्मकता के प्रथम (ऐतिहासिक) बोध की साक्षी हम सस्कृत नाट्य-समीक्षा मे पाते है। नाटक को उन दिनो कहते भी रूप-क थे, और एक रूप-क की सारी सफलता भी तो एक इसी बात पर ही अवलम्बित हुआ करती है कि क्या देखने वालो को, समुख दृश्य पर दृश्य आते देख, एक भ्रान्ति-सी[1] नही हो जाती कि हम अयोध्या मे चल फिर रहे है, सचमुच रामराज्य मे (एक और ही ज़माने मे)[2] रह रहे है, सीता की मूक, नि शब्द, वेदना के साक्षी है

नि शब्द—और, इसी लिए, (साधारणीकरण द्वारा), स्वय द्रष्टा के लिए भी अनिर्वचनीय क्योकि—तब 'वाङमय', जैसा कि हम ऊपर सकेत छोड आये है, 'दृङमय' का ही एक उपकारी अग मात्र था।

भरत की औचित्य-बुद्धि, स्वभावत, अभिनय मे वेष-विन्यासादि द्वारा कथा-पात्र आदि की अनुरूपता प्रस्तुत करने मे—एक इन्द्रजाल-सा बन देने मे—ही सान्त है।

—औचित्य (दृड्मय मे स्थायी है, रस की भ्रान्ति मे स्थायी है,) नाट्य मे स्थायी है।

१ रसो (वै ब्रह्म)
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्राऽरूढानि मायया।

२ लोकाल्लोकान्तर-गमि। लोकप्रमाणत्वात्, अनुकरणस्वभावत्त्वाच्च अभिनयस्य (याथार्थ्येन!)।

5 भारतीय काव्य को अलकारशास्त्र की व्यापक भूमिका मे, दृश्य एव श्रव्य के दो उपभेदो मे प्रतिष्ठित करते हुए, भरत के 'वाचिक अग' को एक स्वतत्र प्रतिष्ठा देने का श्रेय भामह को है, और भामह ने ही, सभवत, सर्वप्रथम यह दरशाया था कि अवस्था-विशेष मे वही दोष (यदि कवि मे नपे-तुले[१] शब्दो मे ही सब-कुछ कह देने की कुशलता है, तो) गुण भी बन सकता है।

इसी आधार पर, आगे चल कर, विश्वनाथ ने कवि-सम्प्रदाय[२] के 'कोरे झूठ' को भी काव्य का अग माना है, और भोज ने तो ऐसे 'वैशेषिक' गुणो की एक वैज्ञानिक सूची भी तय्यार कर छोडी है!

औचित्य (वाङमय मे स्थायी है, श्रव्य मे स्थायी है,) काव्य मे स्थायी है।

१ साहित्य तुल्य-कक्षत्वेन अन्यूनाऽनतिरिक्तत्वम्।

२ न-हि तेषु वाच्यता कुवित् पश्याम —कविस्पृष्टिकया खलु उपस्कृत्य तेषा परमलकारित्वसिद्धे ।

6 नपे-तुले शब्दो मे किसी आशय को प्रस्तुत करने का अर्थ होता है कि—

a शृङ्गार, विप्रलम्भ और करुण को (रस के नाम से नही) **माधुर्य-व्यजक** पदो से, और वीर, रौद्र तथा भयानक को उद्दीपक वर्णो द्वारा—**गुणौचिती** के साथ—यथोचित वर्णित करना,

b रस को इतना अधिक भी बार-बार न उभारा जाय कि वह **विरस**[१] ही लगने लगे, न शालीनता मे इतना-अधिक अश उसका अनकहा ही छोड दिया जाय कि जो कुछ बच रहे **नीरस** ही लगने लगे,

c वाक्य-विन्यास मे समस्त-असमस्त **सघटना** की उपयुक्तता वक्ता, वाच्य तथा विषय की सगति पर आश्रित होती है,

d प्रबन्ध मे **अप्रस्तुत** अग को इतना महत्त्व न दे दिया जाय कि बेचारा पाठक अगी के अनुसन्धान मे ही जी तोड दे।[२]

इसी प्रकार—मुक्तक मे, पर्यायबन्ध मे, सर्गबन्ध मे, अभिनेयार्थ मे, • गद्य मे, पद्य मे, देशाचार मे, रीति मे, रति मे, रस मे, वस्तु मे अलकार मे, इतिवृत्त मे, उत्प्रेक्षा मे, सन्ध्यङ्गो मे—

औचित्य काव्यागो[3] मे स्थायी है।

a १ मज्जन-पुष्पाऽवचय-सन्ध्या-चन्द्रोदयाऽदि-वाक्यमिह ।
सरसमपि नाऽतिबहुल प्रकृतिरसाऽन्वित रचयेत्॥ (लोल्लट)

२ अनुसन्धिर्हि सर्वस्व सहृदयतााया —
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य सो ऽ लकारो ध्वनौ मत ॥ २ १७
Cf Longinus 'A figure looks best when it escapes one's notice that it is a figure'

३ तन्नियमे हेतु —ओचित्यम् । ३ ५
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा । ३ १०

b नाऽमूल लिख्यते किंचित्

भरत (२००–३०० नाट्यशास्त्र)—
वयोऽनुरूप प्रथमस्तु वेषो, वेषाऽनुरूपस्तु गतिप्रचार,
गतिप्रचाराऽनुगत च पाठ्य, पाठ्याऽनुरूपो ऽभिनयश्च कार्य । १४ ६८

भामह (६००–७०० काव्यालकार)—
सनिवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते
नीलपलाशमाबद्धम् अन्तराले स्रजामिव ॥ १ ५४
भयशोकाऽभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि ।
यथाऽह 'गच्छ-गच्छेति' पुनरुक्त न तद्विदु ॥ ४ १४

दण्डी (६००–७०० काव्यादर्श)—
अस्ति काचिदवस्था सा साभिषङ्गस्य चेतस
—यस्या भवेदभिमता विरुद्धार्थाऽपि भारती ॥ ४ १०
विरोध सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्
उत्क्रम्य दोषगणना गुणवीथी विगाहते ॥ ४ ५७

रुद्रट (८००–९०० काव्यालकार)—
अनुकरणभावविकलम् असमर्थाऽदि स्वरूपऽतो-गच्छत्

सात

न भवति दुष्टम्—अ-तादृक्। ५ ४७
ग्राम्यत्वमनौचित्य व्यवहारा-ऽकार-वेष-वचनानाम्
—देश-कुल-जाति-विद्या-वित्त-वय -स्थान-पात्रेषु॥ ११९

आनन्दवर्धन (८००–९०० ध्वन्यालोक)—
न ह्यौचित्यादृते किचिद् रसभगस्य कारणम्॥

राजशेखर (९००–१००० काव्यमीमासा)—
अन्यूनाऽनतिरिक्तत्व-मनोहारिण्यऽवस्थिति (साहित्यम्)। ११७

II

क्षेमेन्द्र मे

7 क्षेमेन्द्र से पूर्व अलकारशास्त्र मे औचित्य की स्थिति को हम आनन्दवर्धन की स्थापनाओ मे सहृत देख सकते है—

१. भरत तथा भामह के नाट्य एव काव्य-गत औचित्य का एक व्यापकतर भूमिका मे स निवेश तथा, विश्लेषण द्वारा उसका काव्यागो मे, वर्गीकरण (ध्वन्यालोक मे मिलता है), जिसके द्वारा कि—
२ यह औचित्य रस-ध्वनि का उपकारक बन गया प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त, आनन्द स्वय ('ध्वनिरात्मा' काव्यस्य' के) नवीन सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक थे, किन्तु—
३ जब ध्वनि की इतिकर्तव्यता ही 'रस-ध्वनि' मे पर्यवसित हो जाती है, तो स्वय ध्वनि 'रस आत्मा काव्यस्य' का एक माधन मात्र बन कर रह जाती है, और, सो—
४ औचित्य का वह व्यापक आधार भी, 'अनौचित्य-परिहार' के अतिरिक्त और, कुछ-नही रह जाता।

8 क्षेमेन्द्र ने सारे प्रश्न पर नये सिरे से विचार किया। प्रतीत ऐसा होता है, जैसे, अब तक हमारे आचार्य, प्रश्न के विश्लेषण की बजाय, **उलटे**—प्रश्न के

समाधान मे अधिक जुटे रहे। बिना मूल प्रश्न को सामने रखे क्षेमेन्द्र के विश्लेषण को और (तदनुसार प्रवर्त्तित) दृष्टिकोण को समझ सकना असभव है (**मूल प्रश्न था . काव्य मे—किसी भी कला मे—कमनीयता का राज़ क्या होता है ?**)

४ कवि का कर्त्तव्य अनौचित्य-परिहार करके ही **खत्म नहीं** हो जाता, कवि का मुख्य कर्त्तव्य, बल्कि, (अनौचित्य परिहार के अनन्तर) कुछ नूतन औचित्य प्रतिष्ठित करने-के साथ **आरम्भ** होता है।

३ आचार्य का कर्त्तव्य, उसी प्रकार, काव्यागो (अलकार-रस-ध्वनि-वक्रोक्ति-रीति) मे आत्मा की खोज करना नही होता, **हमारी समीक्षा का ध्येय तो, बस, इतनी परीक्षा-भर करना होता है कि 'विचाराधीन कृति मे रस, ध्वनि आदि अगो का निर्वाह किस प्रकार हुआ है ?'**

२ इसी प्रकार, प्रश्न रस तथा ध्वनि की परस्पर सापेक्षता का भी नही है, क्योकि—**रस, ध्वनि, रीति इत्यादि—(ये) सब काव्य के अग है**, अगी नही।

१ औचित्य काव्यागो मे तो होना ही चाहिए, किन्तु काव्य मे औचित्य का मूल-स्रोत **कवि का हृदय** होता है—यह भी हम भुला न छोडे।

औचित्य कवि (–हृदय) मे स्थायी है।

9 अर्थात्, क्षेमन्द्र की आचार्य-बुद्धि का सार एक शब्द मे (आचार-दृष्टि अपिवा) औचित्य-दृष्टि है —

> समीक्षक की जाच या परीक्षा का विषय सिर्फ यह होता है कि 'क्या कला-कृति मे हर चीज़ का निर्वाह सही-तमीज़ के साथ हुआ है ?' एक कविता मे वह तमीज़ो-खूबसूरती कवि-हृदय के मूक सौन्दर्य की एक प्रतिच्छाया मात्र होती है। सारे औचित्य की मूलभूमि कलाकार का हृदय है कला मे, अर्थात् कलाकृतियो मे, यदि आत्मा नाम की कोई वस्तु अन्तर्मय है तो वह कलाकार की ही अन्तरात्मा की एक प्रतिध्वनि के अतिरिक्त (एक प्रतिकृति के अतिरिक्त) और कुछ नही होती।

10 इतने-से मौलिक तथ्य को हमारे कवि और आचार्य भुला बैठे। और

नतीजा क्या हुआ ?—(सदियो) काव्याङ्गो मे आत्मा की (निरर्थक) खोज · (कविता-) कामिनी के कोई रग-रूप पर मर-मिटा तो कोई अलकार-आभूषण पर, कोई उसकी चाल पर तो कोई उसकी जबान ओर नजरिया के बाकपन पर, तीखे-पन पर, ओर कोई उसकी छलछल, बेकाबू, बिखरती—रस छलकाती—जवानी पर!

आत्मा अगी है, वह किसी एक ही अग तक सीमित नही किया जा सकता। दूसरे यह कि—कला की एक कृति मे आत्मा का प्रत्यक्ष हम कलाकार की आत्मा के व्यपदेश से ही कर रहे होते है **'क्या जान डाल दी है मिट्टी (के एक जारा-से खिलौने) मे!'**

क्षेमेन्द्र के ओचित्य-विचार मे कही भी आत्मा का, प्राण-प्रतिष्ठा का, जिक्र (एक बार भी, भूल कर भी) नही आता। क्षेमेन्द्र के शब्द है रस-जीवित-**भूतस्य** (औचित्यस्य) (वाक्यार्थ) **सजीव इव** अवभासते—**'क्या जान डाल दी है !** कमाल कर दिया है!'

एक क्षण के लिए हम कलाकार को भुला भी दे, तो-सुन्दरता का आकर्षण वस्तु के 'सदृश किल यस्य यत्' (उचित-स्थान-विन्यास) तौर मे निहित होता है जिससे कि हमे उस मे सजीवता की **एक भ्रान्ति-सी** हो आती है। और यह तौर तुच्छ-से-तुच्छ चीज मे भी **आ सकता है**, होता है—कवि उसका भी उचित-विन्यास **कर सकता है**

सरसिजमनुविद्ध **शैवलेनाऽपि** रम्यम्
किमिव हि मधुराणा मण्डन नाऽकृतीनाम् ?

II आचार्य ने काव्य मे आचार-परीक्षा की भूमिका—मीमासा, काव्यशास्त्र, व्याकरणशास्त्र तथा लोकाचार की चार दृष्टियो से जाच शुरू करते हुए—बाधी है। यह, एक प्रकार से, 'काव्याग-समीक्षा' की समत परम्परा का निर्वाह-मात्र है, और इस मे भी—विशुद्ध काव्यशास्त्र के पाच सम्प्रादयो का ज़िक्र तक न करना (काव्य-लक्षण, शब्द-शक्ति आदि प्रश्न उठाना ही नही), क्षेमेन्द्र मे, इस बात का द्योतक प्रतीत होता है कि—विश्लेषण करना, बाल-की-खाल उतारना, वर्गीकरण की प्रवृत्ति, प्राय, समीक्षक को गुमराह कर दिया करती है, अव्यवस्थित कर दिया करती है।

वैसे—रीति का मूल माधुर्यादि गुण है तो वक्रोक्ति और ध्वनि भी, उसी प्रकार, अलकार-दृष्टि का ही एक प्रकारान्तर मात्र है। 'उदाहरण-प्रत्युदाहरण' मे (जो प्राय. एक ही विषय-गत है, और, सो परस्पर सम्बद्ध है) अलकारो मे यदि उपमा और श्लेष को ही छुआ है तो गुणो मे भी माधुर्य और ओज को ही, बस।—रस प्रकरण मे अधिक बल शान्त पर ('शान्त' की अच्युत वृत्ति पर, स्थितप्रज्ञता पर) है, रस-मिश्रण से बचने का और उपसर्ग और निपात को सार्थकता के साथ प्रयुक्त करने का, साथ ही 'पर्यायो' को भी पर्ययवत् इस्तेमाल करने से सावधान रहने का—उपदेश है, भवभूति को 'करुण' की नही, वीर की, उद्भावना मे रससिद्ध माना गया है।

12 इतना सब विवेचन कर के क्षेमेन्द्र, अन्त मे, पुन अपने उसी मूलप्रश्न पर जाते है 'कला मे यह सौन्दर्य, यह आकर्षण, आखिर, आता कहा से है? बेजान मिट्टी मे यह **जान-सी** डाल कौन जाता है?' **३०–३९ की कारिकाओ मे—जिन्हे हम 'आचार्य की (निजी) आचार-दृष्टि' कहना पसन्द करेंगे**—आचार्य ने, जैसे पुरा पड-गये उसी विषय को ताज़ा करते हुए, १० प्रश्न उठाये है :—

'क्या कवि कुछ पते की बात भी कह रहा है?
क्या उसका शब्द-शब्द पात्र के व्यक्तित्व से उद्‌गूर्ण है, **सजीव** है?
क्या वह अपना अभिप्राय दो-शब्दो मे भी कह सकता है?
और—अलमतिप्रसगेन!'

—जैसे कोई साक्षात्कृतधर्मा विभूति, हमारा हाथ पकड, हमे सीढी-दर-सीढी पहाड की चोटी पर ले-जाय और, मन्दिर के अन्दर पहुचा कर, हमारा वह हाथ छोड दे, पीछे से चुपचाप (दरवाज़ा बन्द कर के) निकल जाय! —

झाक झाक मन जी भर के
हृदय-कोण मे कविवर के
—बैठी सृष्टि नयी कर के,
जोगिन को जग-रास कहा?

यह शिवालय, और नही, कवि का अन्तर्-हृदय है जो सब प्रश्नो की चरम-समाधि है, उचित-'अवसान' है।

औचित्य कवि-हृदय में स्थायी है।

अश्रुत् कर्ण श्रुधी हवम्

बात न कह कर कह जाता हू,
कहता-कहता रह जाता हू।

सुना तुमने ?

III

क्षेमेन्द्र के बाद

—नाऽनपेक्षितमुच्यते—

क्षेमेन्द्र की आलोचना का मूल सूत्र तत्त्व-स्पर्श का है—जो लव, रावण, हिरण्यकशिपु की पात्रता को हृद्गत कर सकता है, अश्वत्थामा की दुर्रभसन्धि मे 'स्थेमा' के ही दर्शन करता है, और परशुराम तथा विष्णु के दृष्टि-दोष को उसी-क्षण भाप सकता है, शान्त-रस मे—याग की धूनी और भस्म मे, उसे वही शान्ति मिली है जो (उसी दूर की सगति के द्वारा) 'दैट कूलिंग टच आव एन आइ-**सा'व**' मे।

13 क्षेमेन्द्र के बाद, भारतीय कलाकार मे तथा कला-समीक्षक मे, 'औचित्य की कह नी.' ढ डे थ डे मे व ही जा सव ती है   सरवृत के प रत र आचार्यो (भ ज १०००–११०० मम्मट ११००–१२००, विश्वनाथ १३००–१४००, जगन्नाथ १६००–१७००) ने औचित्य को बस अनौचित्य-परिहार का ही एक पर्याय, या ज्यादह से ज्यादह गुण-दोष की नित्यानित्य-व्यवस्था का एक आधार, मान लिया प्रतीत होता है, बस ! सस्कृत साहित्य तथा साहित्यशास्त्र के उत्तराधिकारियो की लीला तो और भी विचित्र थी—साहित्य का अर्थ उन्होने समझा-ही 'सह-नौ **भुनक्तु**'. 'कामिनी के नखशिख मे जो खुद को गालिब नही कर सकता, वह भला कवि बनने के स्वप्न देख कर क्या करेगा ?'

14 'अब के कवि' और अब-के समीक्षक, दोनो, चोरी के अलावा और कुछ नही जानते। 'प्रबन्धार्थ मे औचित्य' के प्रसग मे क्षेमेन्द्र ने काव्योपजीविता को हेय नही ठहराया था—लेकिन उम्मीद उन्होने यही की थी कि 'आज का कवि' कुछ नयी उत्प्रेक्षा लाकर, मूल-कथा को एक नयी टर्न देकर, काव्य मे कुछ 'रस-बन्धुर छाया' तो ले-आयगा। खैर।

15 और तो ओर, आज दो भारतीय आचार्य, 'एक क्षेमेन्द्र-अनुशीलन' प्रस्तुत करते हुए, लिखते है 'भरत ने औचित्य के सिद्धान्त को नाट्य मे **सूचित** किया, आनन्दवर्धन ने उसका नाट्य और काव्य के उभय क्षेत्रो मे **परिबृहण** किया, तथा क्षेमेन्द्र ने इस तत्त्व की काव्यमन्दिर मे **प्राण-प्रतिष्ठा** की।' मन्दिर मे प्राण-प्रतिष्ठा! अर्थात्—देव-मूर्त्ति मे देवत्व की प्रतिष्ठा? (आहरण—ओर वह भी एक अदना पुजारी करेगा?!)

—महज़ विचारहीनता का द्योतक है। हम फिर दोहरा दे—क्षेमेन्द्र की सारी विचार-चर्चा मे आत्मा व प्राण का कही, शब्दमात्र भी, सकेत नही।

16 वसे, युग की वर्तमान दिशा, कला मे भी, मार्क्सवादी रोटी-पानी की ओर और कामुकता एव नग्नता की ओर 'प्रगति-शील' है जिसे 'आचार्य की आचार-दृष्टि' किसी भी सूरत मे उचित करार नही दे सकती। कवि-दृष्टि की सार्थकता लाज को ढक देने मे होती है और दृष्टि-दोष को (वह कही भी हो) खुले शब्दो मे फटकार देने मे होती है। क्षेमेन्द्र-चर्चा मे कुछ उदाहरण मार्डनिज्म की छाप लिये हुए हैं, किन्तु उन पर ग्यारहवी सदी (के उस आचार्य) की कमेण्ट्स हम वीसवी सदी वालो की भी आखे खोल दे –

* सूखे गोयो की आग—कितनी सुखद होती है सरदियो मे जैसे नई बहू का गुस्सा!
  दिल को सचमुच भा रही थी, किन्तु उपमा सुनकर **बुद्धि ठिठक गई**।
* रास्ते चलते-चलते एक काटा सो'नी के पैर मे क्या चुभा कि इधर उसके मुह से एक 'सी' निकल गई और उधर-से किसी आवारा का मुह खुल गया 'वारी जावा, सो'णेओ, इक **सी** होर!'

सो'नी भोली थी, मुसकरा दी। तभी-चन्द्रकिरणो ने, मानो, जवानी की लाज ढकने की खातिर (कि बेचारी पर एक लम्पट की बुरी नज़र जो पड गई थी), उसके चार-दातो मे उलझते हुए एक **चुनरिया**-सी बुन दी! 42

* '**एक आख** देख कर ही दुश्मन को खत्म कर दिया!
—तो फिर अवतार लेने की ज़रूरत भी क्या थी?
हिरण्यकशिपु इतना हीजड़ा नहीं था। 57

* विधवाए जब पति की ताज़ी मौत पर 'हाय वे **वीरा, हाय वे शेरा**, मेरे सो'णेआ' छाती पीटना शुरू कर देती हैं लोग समझते है तमाशा है, 'या फिर—**ग़म आवाज़ तक ही** है। (दिल मे अफसोस **इसे भी** नही है!) 27

* साहित्य, सगीत, विद्या—कुछ काम नही आने के (अगर पल्ले मे पैसा नही है)।
—बस? एक ही धक्के ने (किस्मत के) सब होश गवा दिये? 84

* रोज़-रोज़ की बेइज्ज़ती के साथ घर मे पेट भरते रहने की बजाय, बेहतर है—कपाल-कुण्डल हो जाओ—भीख माग कर गुजर कर लो!
—हसद और बदले (की मैल) से भरा दिल, और यह बिराग का दम्भ! कायर! 82

आचार्य की 'भावयित्री' प्रतिभा भी **तत्त्वार्थ (वि) निवेशिनी** है।

17 आज विज्ञान का युग है, अध्यात्म का नही जिसमे सब्जेक्टिविज़्म हेय है, आब्जेक्टिव-व्यू की ही प्रतिष्ठा है। किन्तु क्षेमेन्द्रीय औचित्य-बुद्धि मे दोनो के परिणय मे ही कला का जन्म, मरण, विकास—सब-कुछ परिनिष्ठित होना चाहिए। न वैयक्तिक रुचि की तुच्छता वस्तु के स्वाभाविक सौन्दर्य को दूषित कर सकती है, और न ही दृश्य (मान) की 'अ-भव्यता' द्रष्टा (की दृग् के काजल) को पतित कर सकती है। गलती, शायद, दोनो के 'अनुचित स्थान-विन्यास' मे—'a wrong angle 'tween the two' मे—कही है।

18 सौन्दर्य की प्रतिष्ठा इतने से ही सिद्ध हो जाती है कि मैं आवेश मे आकर सामने खिलते फूल को तोड नही लेता। किन्तु स्खलन का मार्ग कितना सरल है! कालिदास चले तो थे पार्वती के नवयौवन को प्रदीप्त करने के लिए उचित विभाव (उद्दीपन) जुटाने, किन्तु कर्णिकार की निर्गन्धता ने उन्हे विचलित कर दिया—और वो विधाता मे ही दोष निकालने लग गये! वही महान् कलाकार जिसने (पहला ही, और एक-ही, **भारतीय था वह जिसने**) **शैवल के स्थान-विन्यास** की दृष्टि पायी थी, जैसे, किसी आकस्मिक सफलता या सम्मान से अपनी प्रतिभा खो बैठा है!

19 वैज्ञानिक उसी वस्तु के (व्यवच्छेद मे, अग-अग के) **वर्णन** मे रत है, तो कलाकार उसे नये-से-नया रूप देकर **उपवर्णित** करने मे, जब कि सन्त का निरवसाद-शान्त-आत्माराम जीवन—सुन्दरता मे भी शान्त! —एक **अवर्ण्य** वस्तु है। सन्त ने यदि कल्याणमार्ग का पथिक बन कर जीवन मे पूर्णता, **एकता**, पा ली है, तो वैज्ञानिक की प्रवृत्ति-प्रगति भी विश्व के अणु-अणु मे उसी एकता की प्रत्याशा से ही प्रेरित है। एक कलाकार ही है जो इधर-उधर, जहा-तहा, भटकने मे ही आनन्द पाता है lost to the world—in his *many* loves, his *many* masterpieces!

और क्षेमेन्द्र के पास इन तीनो प्रवृत्तियो के लिए एक ही शब्द है 'अनङ्ग-क्रिया, अजन-कल्प' क्योकि—

औचित्य (अनङ्ग-क्रिया मे स्थायी है,) अंजन मे स्थायी है। सुनते हो?—'मैने कहा उसे अ-च्युत रहने देना!'

20 '**कवे कर्म—औचित्यम्**। ३८ वृ

---

१ जिसमे किचित-सिद्धि—i महाकाव्यार्थ-चवर्ण द्वारा, ii 'सहवास कविवरै' द्वारा, तथा iii लोकाचारपरिज्ञान (आब्जर्वेशन) द्वारा—उपलब्ध की जा सकती है। स्पर्धा अच्छी चीज नही, iv **उन्मेष**-जिगीषा को, हा, कुछ क्षम्य कहा जा सकता है वह भी—यदि v 'व्युत्पत्तौ सर्व-शिष्यता' के नम्र-भाव से प्रेरित हो, तभी।

क्षेमेन्द्र सर्व-शिष्य थे या केवल **सर्वज्ञ**-शिष्य? *Or* ज्ञ-=मनीषि-?

It would have been a crime to add the slightest ornament to the story, so like a myth I have not related a single anecdote of which I am not sure I have not deformed a single phrase or so much as invented the colour of a dress The facts are as stated, the quoted words were actually pronounced

—Madame Curie *by* Eve

अथ

क्षेमेन्द्रप्रतिबोधिता

औचित्यविचारचर्चा

उचथस्य नव्य

तत्र

क्रमेण

आदौ तावत्

पुनश्च

उद् बुध्यस्वा ऽग्ने

(१) आसीत् प्रकाशेन्द्र इति प्रकाश काश्मीरदेशे त्रिदशेश्वर-श्री ।
अभूद् गृहे यस्य पवित्रसत्रम् अच्छिन्नमग्रासनमग्रजानाम्[१] ॥

(२) य श्रीस्वयम्भू-भवने विचित्रे लेप्य-प्रतिष्ठापित-मातृचक्र[२] ।
गो-भूमि-कृष्णाऽजिन-वेश्म-दाता[१] तत्रैव[३] काले तनुमुत्ससर्ज ॥

(३) तस्यात्मज सर्वमनीषि-शिष्य श्रीव्यासदासा-ऽपरपुण्यनामा[४] ।
क्षेमेन्द्र इत्यक्षयकाव्यकीर्तिश् चक्रे [५]नवौचित्य-विचारचर्चाम्[६] ॥

(४) श्रीरत्नमिहे सुहृदि प्रयाते शार्व-पुर[७] श्रीविजयेश-रायि[८] ।
तदात्मजस्योदयसिहनाम्न कृते कृतस् तेन गिरा विचार[९] ॥

(५) यस्यासि परिवार-कृत्[१०] त्रिभुवनप्रख्यात-शीलश्रुते
सर्वस्या ऽवनतेन[११] ेन नितरा प्राप्ता विशेषोन्नति ।
आशा शीतलता[१२] नयत्य ऽविरत यस्य प्रतापानलस्[१३]
तस्य श्रीमदनन्तराजनृपते काले किला ऽय कृत ॥

प्रेरणा

क्षेमेन्द्र का जन्म कश्मीर के एक सम्पन्न और उदार परिवार मे हुआ था। दिन-रात ब्रह्म-सत्र जुटा रहता[१]। पिता (प्रकाशादित्य) ने तो एक ब्रह्ममन्दिर की प्रतिष्ठा भी कराई थी—जहा[३] षोडशी-पूजा[२] की निरति मे उन्हे, एक दिन, ब्रह्म-समाधि मिल गई। (१–२)

क्षेमेन्द्र अनाथ हो गये। किन्तु हिम्मत न हारी। हर गुरु की शिष्यता स्वीकार की, किस से कुछ नही-सीखा? कवित्व मे उनके दीक्षागुरु थे—वेदव्यास।[४]

कितने ही काव्यो की रचना स्वय की। परन्तु, 'सत्काव्य की पहचान क्या है?'—इस प्रश्न पर, अभी तक, कुछ स्व-तत्र[५] चिन्तन[६] उन्होने नही किया था। (३)

उन दिनो कश्मीर मे प्रतापी[१३] किन्तु विनयी[११] राजा अनन्तवर्मा (१०२८-६३) का राज्य था—राष्ट्र मे सर्वतोमुख अभ्युदय और शान्ति[१२] का साम्राज्य[१०]। (५)

रत्नसिह, जो क्षेमेन्द्र के परम मित्रो मे से थे, बीजवेहारा तीर्थ[८] करने सोपुर[९] की ओर निकल गये और पुत्र (उदयसिह) को क्षेमेन्द्र के पास छोडते गये।

उसी एकान्त-चिन्तन तथा बाल-प्रेरणा का प्रसाद है—क्षेमेन्द्र का यह 'औचित्यविचारचर्चा'—परक निबन्ध[६]। (४)

Colophon

नान्दी

१

कृता हि वञ्चने[१] दृष्टिर्येनाञ्जनमलीमसा ।
अ-च्युताय[२] नमस्तस्मै परमौचित्यकारिणे[३] ॥

उन्मेष

१

उस दिन, जब—आखो मे काजल के मिस—यौवन (की मुग्धता) मे, अकस्मात्, 'मोहिनी'[१] उतर आई थी, और बाला को, जीवन मे **पहली बार**, कुछ चैन[२] अनुभव हुआ था , तभी—

कवि की चेतना मे कमनीयता का प्रथम स्पन्दन जागा था ।[३]

वह कैसी अ-मृत[२] वेला थी !

मूलपाठ (छपे सस्करणो मे) '**कृतारिवञ्चने**'[१] है—जिसका अभिप्राय आख्यानवादी प्राय 'विष्णु (अच्युत) के हाथो असुरो (अरय) की [अमृत-पान से] वञ्चना' समझते है ।

I

औचित्यम्

२–३

कृत्वाऽपि काव्यालकारा क्षेमेन्द्र कविकर्णिकाम् ।
तत्कलङ्क विवेक च विधाय विबुधप्रियम्[१] ॥
औचित्यस्य[२] चमत्कारकारिणश् चारुचर्वणे[३] ।
रसजीवित-भूतस्य[४] विचार कुरुते ऽधुना ॥

४–५

काव्यस्याऽलमलकारै कि मिथ्यागणितैर्गुणै ।
यस्य जीवितमौचित्य विचिन्त्याऽपि न दृश्यते ॥
अलकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणा सदा ।
औचित्य रससिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम् ॥

परस्परोपकारक-रुचिर-शब्दार्थरूपस्य काव्यस्य उपमा-उत्प्रेक्षादयो ये प्रचुरा-ऽलकारा, ते (कटककुण्डलकेयूरहारादिवद्)अलकारा एव–बाह्यशोभाहेतुत्वात्[१] । येऽपि काव्यगुणा केचन तल्लक्षणविचक्षणै समाम्नाता, तेऽपि (श्रुतसत्यशीलादिवद्) गुणा एव—आहार्यत्वात्[२] । औचित्य-तु, अग्रे वक्ष्यमाणलक्षण, स्थिरम्[३]-अविनश्वर[४] जीवित काव्यस्य—तेन विना अस्य (गुणालकार-युक्तस्यापि) निर्जीवत्वात् । रसेन[५] शृङ्गारादिना सिद्धस्य[६] (प्रसिद्धस्य) काव्यस्य (धातुवाद[८]-रससिद्धस्य इव[७]) तत् स्थिर जीवितम्—इत्यर्थ

I
कमनीयता का रहस्य

२–३

आलोचना को अलकार-निरूपण तथा गुणदोष-विवेक तक ही सीमित रख के 'शास्त्रीय परम्पराए'[१] तो शायद निभ जाती है, लेकिन जिज्ञासा तृप्त नही होती, क्योकि—

आलोचक तो खोजने निकला था—कमनीयता-के-राज़[२] को, उस मूल (अदृश्य) अन्तस्तत्त्व को 'जो कि कलाकृति मे तो एक (नूतन) सजीवता-सी,[४] और हृदय मे एक (अनिर्वचनीय) चमत्कृति-सी, एक आत्मविभोरता-सी[३], सहसा सचरित कर जाया करता है'।

४–५

लेकिन काव्य मे—कमनीयता आहित करने का यह सामर्थ्य न तो अलकार-गुण मे ही रहा करता है, और न रस मे।

इसी बात को यदि एक रूपक द्वारा प्रस्तुत करना हो, तो —

कविता और कामिनी—शब्द-अर्थ, अलकार, और माधुर्यादि रूप-रग, आभूषण, और शीलादि। किन्तु, सजीवता ? उसका आवास (इन मे) कहा है ?— शरीर मे ? बाहरी टीप-टाप मे[१] ? आन्तर गुण-सम्पद्[२] मे ? या फिर—छलछल[६], बेकाबू, जहा-तहा बिखरते यौवन-रस[५] मे ? ये सब आनी-जानी चीज़े है। (जीवन के) इन अनित्य (निर्जीव) धर्मो मे कुछ नित्यता-सी[४], स्थायिता[३] की (सजीवता की) कुछ क्षणिक भ्रान्ति-सी[७], उद्बोधित करने वाला वह परम तत्त्व, वह रसायन[८], कौन-सा है ?

उक्तार्थस्यैव विशेषमाह—

६

उचितस्थानविन्यासाद् अलक्कृतिरलक्कृति ।
औचित्यादच्युता नित्य भवन्त्येव गुणा गुणा ॥

अलक्कृतिर् उचितस्थानविन्यासाद अलकर्तु क्षमा भवति, अन्यथा-तु अलक्कृति-व्यपदेशमेव न लभते । तद्वत्—औचित्याद्-अपरिच्युता गुणा गुणताम् आसादयन्ति, अन्यथा—पुनर् अगुणा एव यदाह—

प्रमा १] 'कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन[१] वा ।
शौर्येण प्रणते[२], रिपौ करुणया—ना ऽयान्ति के हास्यताम् ?
औचित्येन विना रुचि प्रतनुते नाऽलक्कृतिर् नो गुणा ॥'

किं तद औचित्यम् इत्याह—

७

उचित प्राहुराचार्याः सदृश किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस् तदौचित्य प्रचक्षते ॥

यत्किल यस्याऽनुरूप तद् उचितमुच्यते; तस्य भावम् औचित्य कथयन्ति ।

६

अलकार और गुण—लेकिन ये भी तो—तभी फबते है जब कि इनका इस्तेमाल (रूप-रग को, रस को, निखारने के लिए) कुछ **तमीज** के साथ किया जाय, तभी, वरना, इनका—

'पैरो मे बाजूबन्द[1] और शरणागत पर शूरता[2] की तरह' [1 **प्रमा**—अपनी मज़ाक आप बन जाने का भी डर होता है।

७

कमनीयता भी, शायद, **'जहा जो जच जाय'** की जुगती के अतिरिक्त (बुद्धि और योजना के अतिरिक्त)—औचित्य के अतिरिक्त—और कुछ नही है।

★

सकेत

प्रमा (ण)

उ (दाहरण) **प्र** (त्युदाहरण)

II

औचित्यविचार:

अधुना सकलकाव्यशरीर-जीवितभूतस्य औचित्यस्य प्राधान्येन-उपलभ्यां स्थितिं दर्शयितुमाह—

८–१०

i पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे, ii गुणे ऽलंकरणे रसे ।
iii क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे ॥
उपसर्गे निपाते च काले, iv देशे कुले व्रते ।
[v तत्त्वे सत्त्वे ऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ॥
प्रतिभायाम् अवस्थायां विचारे नाम्नि अथाऽऽशिषि ।
काव्यस्याऽङ्गेषु च प्राहुर् औचित्यं व्यापि जीवितम् ॥]

एतेषु पदप्रभृतिषु स्थानेषु, मर्मसु[१]-इव, काव्यस्य सकलशरीरव्यापि जीवितम्-औचित्य—स्फुटत्वेन-स्फुरद्[१] अवभासते ।

II

कमनीयता की भूमियां

८–१०

वैसे तो औचित्य की इस दृष्टि से काव्य के किसी भी अग की उपेक्षा के लिए छूट नही दी जा सकती, लेकिन, पहले, कमनीयता के कुछ-ही (प्रसिद्ध) उद्भावना-स्थलो का किचित् (सोदाहरण) परिचय (जिन्हे कि प्राचीन आचार्य मर्मवत्[1] ग्रहण करते आये है)—

1 **मीमासा शास्त्र**, 11 **काव्यशास्त्र**,

111 **व्याकरण शास्त्र**, तथा 1V **लोक-शास्त्र**

की विविध दृष्टियो से

—प्रस्तुत करना अप्रासगिक न होगा।

[तदनन्तर ही कवि का नूतन—

V **अन्तर्दृष्टिकोण**

सावकाश (३०-३९) हो सकता है।]

III

औचित्यचर्चा

११

तेषु उदाहरणानि क्रमेण दर्शयितुमाह—

तिलक बिभ्रती सूक्तिर् भात्येकमुचित पदम् ।

चन्द्राननेव कस्तूरीकृत, श्यामेव चान्दनम् ।।

एकमेव उचित पद (तिलकायमान) बिभ्राणा सूक्ति समुचितपरभाग-शोभाऽतिशयेन रुचिरताम् आवहति। यथा परिमलस्य—

उ 'मग्नानि द्विषता कुलानि समरे त्वत्खड्ग-धाराऽकुले 1

नाथाऽस्मिन्निति वन्दिवाचि बहुशो देव श्रुताया पुरा।

मुग्धा गुर्जरभूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथस

कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहु पत्यु कृपाणे दृशौ।।'

अत्र 'मुग्धा'-पदेन अर्थौचित्यचमत्कारकारिणा (शरदिन्दुवदनेव श्यामतिलकेन—श्यामेव शुभ्रविशेषकेण) ˇवभूषिता सूक्ति सकलकविकुल-ललामभूता विच्छित्तिम् आतनोति । न तु यथा धर्मकीर्ते —

प्र 'लावण्यद्रविण-व्ययो न गणित, क्लेशो महान् स्वीकृत, 2

स्वच्छन्दस्य सुख जनस्य वसतश् चिन्ताज्वरो निर्मित ।

एषाऽपि स्वयमेव तुल्यरमणाऽभावाद् वराकी हता

को ऽथश् चेतसि वेधसा विनिहितस् तन्व्यास् तनु तन्वता ।।'

अत्र 'तन्व्या' इति पद, केवल शब्दानुप्रासव्यसनितया निबद्ध, न काचिद्

III

कमनीयता की कसौटी पर

११

एक ही पद

(सूक्ति की) सारी कमनीयता सिमेट कर एक पद में भी लायी जा सकती है—जैसे माथे की बिंदिया मे।

1 'मै तो, नाथ, चारणो के मुख से कब की सुनती आ रही हू कि इसकी धार में शत्रु की कितनी-ही अक्षौहिणिया डूब मरी!' और—**मुग्धा** (रानी) की प्यामी आखे, वीरान मे वहा, पति की तलवार को, किस प्रत्याशा के साथ, एकटक देखती ही रह गई, देखती ही रह गई!' उ

—एक ही पद मे दुनिया-भर का भोलापन बटोर कर रख दिया!

2 सारी सौन्दर्य-सपद् भी उडेल दी, इतना श्रम भी किया, हर आते-जाते की नीद भी (मुफ्त)हराम कर डाली किस लिए?—अगर तन देकर भी तन्वी को 'तन-बर' की तमन्ना मे तडपाना ही दरकार था, मेरे ख़ुदा! प्र

—'तन्वी' का प्रयोग प्राय विरह-विधुरता के प्रसग मे ही हुआ करता है। 'सुन्दरी' उपयुक्ततर होता। ज़रा-से अनुप्रास-व्यामोह ने सब-

अर्थौचित्य-चमत्कारकणिकाम् आविष्करोति। 'सुन्दर्या' इति पदम् अत्र अनुरूप स्यात्। अन्यानि वा निरतिशय-रूपलावण्यव्यञ्जकानि। 'तन्वी'-पद तु विरहविधुर-रमणीजने प्रयुक्तम् अर्थौचित्यशोभा जनयति। यथा श्रीहर्षस्य—

उ 'परिम्लान पीन-स्तनजघन-सङ्गाद् उभयतस् 3
तनोर् मध्यस्या-ऽन्त परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इद व्यस्तन्यास श्लथभुजलता-क्षेपवलनै
कृशाङ्ग्या सताप वदति बिसिनीपत्र-शयनम्॥'

अत्र सागरिकाया विरहावस्थासूचक 'कृशाङ्ग्या' इति पद परमम्-औचित्य पुष्णाति।

१२

वाक्यगतमौचित्य दर्शयितुमाह—

औचित्यरचित वाक्य सतत समत सताम्।
त्यागोदग्रमिवैश्वर्यं, शीलोज्ज्वलमिव श्रुतम्॥

औचित्यरचित वाक्य काव्यविवेकविचक्षणानाम् अभिमततमम्। यथा मम विनयवल्ल्याम्—

उ 'देवो दयावान्, विजयो जितात्मा, यमौ मन सयममाननीयौ। 4
इति ब्रुवाण स्वभुज प्रमार्ष्टि[1] य कीचका-ऽकालिक-कालदण्डम्॥
धीर[2] स किर्मीर(जटासुर)ारि, कुबेर(शौर्य)प्रशमोपदेष्टा।
दृष्टो हिडिम्बा-दयित, कुरूणा पर्यन्तरेखागणना-कृतान्त॥' (1+11)

अत्र—भीमस्य भीमचरितोचित-कीचकाऽकालिककालदण्ड-हिडिम्बादयित-आदिभि पदैर् उन्निद्ररौद्ररसस्वरूपाऽनुरूपो—वाक्यार्थ सजीवऽ-इव अवभासते। यथा वा राजशेखरस्य—

कुछ चौपट कर डाला ।

3 हा, अलबत्ता यहा 'तन्वी' पद भी उतना ही जच सकता था जितना उ
'कृशागी' बिरहिन औधी पडी है, 'कुछ जघन और उरोजो के भार से, तो कुछ व्यथा की आकुलता मे बाहे इधर-उधर पटकने से—फूलो-की-सेज पर एक मुर्दनी-सी आ गई है, सिर्फ बीचो-बीच, स्तनान्तर की **कृशता** के कारण अस्पृष्ट, एक शाद्वल-लेखा-सी अब भी अ-म्लान है ।'

१२

सारी पदावली

और यदि सारे-के-सारे पद ही वाक्य की सगति मे एक दूसरे से होड लेने लग जाय—फिर तो, जैसे, सोने को सुहागा लग गया !

4 'युधिष्ठिर की कारुणिकता, अर्जुन की आत्मसयमिता, और नकुल-सहदेव उ
की मनस्विता' की विरोधिता मे भीम का भुजा को ठोकना[१]—उसी भुजा को जिस पर कि उसे 'कीचक की अकाल मृत्यु और किर्मीर का जानी दुश्मन होने का, और एकबार तो कुबेर तक को सबक सिखाने का, कौरवोच्छेत्ता तथा हिडिम्बा-पति होने का, गर्व है' (1+11)

—हर शब्द, किस अनूठेपन के साथ, **पात्र**[२] की धीरोद्धतता एव **रस** की रौद्रता का प्रतिपादक बन कर आया है !

उ 'सम्बन्धी पुरुभूभुजा[१], मनसिजव्यापार-दीक्षागुरुर्, 5
गौराङ्गीवदनोपमापरिचितस्, तारावधू-वल्लभ ।
सद्योमार्जित (दाक्षिणात्यतरुणी) दन्ता-ऽवदातद्युतिश्
चन्द्र सुन्दरि दृश्यतामयमितश् चण्डीश[२]-चडामणि ॥'

अत्राऽपि—चन्द्रमस श्रृङ्गाराऽन्तरङ्गैर् अनङ्गोद्दीपनै पदैर्निर्वर्तितो—वाक्यार्थं सदर्थ-औचित्य-सामर्थ्येन अत्यर्थम्-अर्थनीयता प्राप्त । न-तु यथा अस्यैव—

प्र 'नाले शौर्य-महोत्पलस्य विपुले, सेतौ समिद्-वारिधे, 6
शश्वत् खड्गभुजग-चन्दनतरौ, क्रीडोपधाने श्रिय ।
आलाने[१] जय-कुञ्जरस्य, सु-दृशा कदर्प-दर्पे परम्—
श्रीदुर्योधन-दोष्णि विक्रम-नरे[२] लीन जगद् नन्दतु ॥'

अत्र, अतिशयपरकर्कशसोत्कर्ष[३]-सुभटभुजस्तम्भस्य असमुचितेन कुवलयनाल-तुलाऽधिरोपणेन, वाक्यार्थ सोपहासतयेव-निबद्ध परिज्ञायते ।

१३

प्रबन्धार्थौचित्य दर्शयितुमाह—

उचितार्थविशेषेण प्रबन्धार्थ प्रकाश्यते ।
गुणप्रभावभव्येन विभवेनेव सज्जन ॥

अम्लान-प्रतिभा-प्रकर्षोत्प्रेक्षितेन (सकलप्रबन्धार्थाऽप्यायि-पीयूषवर्षेण) समुचितार्थ-विशेषेण महाकाव्य, स्फुरद्-इव, चमत्कारकारितामापद्यते । यथा कालिदासस्य—

उ 'जात-वशे[१] भुवनविदिते पुष्करा-ऽवर्तकाना 7
जानामि त्वा प्रकृतिपुरुष कामरूप मघोन ।
तेना ऽर्थित्व त्वयि विधिवशाद् दूर-बन्धुर् गतो ऽहम्—
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे ना ऽधमे लब्धकामा ॥'

5 'प्यारी, देख रही हो ?—काम-कला के परम-गुरु, नभ-परियो के लीला-वल्लभ, गोरे-गोरे गालो वाले, आन्ध्र-तरुणियो की दन्तच्छटा मे रगे, गौरी-पति[२] के शिरोमणि, दु ष्यन्त के उस छबीले भाई-बन्द को[१]—देख रही हो, प्यारी ?' उ

—सभोग की सारी उद्दीपन-सामग्री बस एक **चाद** ही को दिखाकर, बखूबी, उपस्थित कर दी !

6 अतुल पराक्रम के धनी[१] दुर्योधन की भुजा को 'युद्धरूपी समुद्र के सेतु, लक्ष्मी के विलास-उपधान, जय-दिग्गज के निबन्धन[१], ' रूप मे बखानते-बखानते 'शौर्य-कमल का **नालदण्ड**' कहने लग जाना प्र

—इसे कवि की उपहास-बुद्धि समझा जाय या छिछोरपना !

१३

नयी उद्भावना

किन्तु काव्य मे भव्यता, प्राय , किसी नूतन उद्भावना द्वारा ही प्रस्फुटित हुआ करती है—जैसे हार्दिक विभति द्वारा आचार मे ।

7 मेघदूत की भव्य कल्पना का आधार है मेघ मे चैतन्य की परिकल्पना जिसके लिए—कवि ने उसके 'प्रथित वश और सौहार्द' का कीर्त्तन करा के उसे सचमुच, पहले, 'अधिगुण' ही सिद्ध किया है उ

—मेघ का वह सोया **आभिजात्य**[१] जाग उठा और वह, 'नन्ही

ऽनाथ तनया-प्रतिपादनम् अभिमतमिव उपलक्ष्यते। न-च एतद् विद्म–'कथ भक्ष्यभूता कुसुमकोमलाङ्गी पुरुषा-ऽदाय प्रतिपाद्यते ?' इति। अनौचित्येन प्रसिद्धेन, वृत्त-वैपरीत्य पर हृदय-विसंवादम् आदधाति। यथा वा कालिदासस्य—

प्र 'ऊरुमूल-नखमार्गराङ्क्तिभिम् तत्क्षण हृत-विलोचनो हर। 10
वासस प्रशिथिलस्य संयम कुर्वती प्रियतमाम अवारयत्॥'

अत्र, अम्बिका-सभोगवर्णने पामरनारीसमुचित-निर्लज्जसज्ज-नखराजि-विराजित-ऊरुमूल-हृतविलोचनत्वम् त्रिलोचनस्य भगवतस्त्रिजगद्गुरोर यदुक्त—नेन अनौचित्यमेव पर प्रबन्धार्थ पुष्णाति।

१४

गुणौचित्य दर्शयितुमाह—

प्रस्तुतार्थोचित काव्ये भव्य सौभाग्यवान् गुण।
स्यन्दतीन्दुरिवानन्द सभोगाऽवसरोदित॥

प्रस्तुतार्थस्य औचित्ये (ओज-प्रसाद-माधुर्य-सौकुमार्यादि-लक्षणो) गुण, काव्ये भव्य, सौभाग्यवत्तामवाप्त, सहृदया-ऽनन्दसदोहम् (इन्दुरिव) स्यन्दति। यथा भट्टनारायणस्य—

उ 'महाप्रलयमारुत-क्षुभितपुष्कराऽवर्तक- 11
प्रचण्डघनगर्जित-प्रतिरवाऽनुकारी मुहु।
रव श्रवण-भैरव स्थगित-रोदसीकदर
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्व पुर॥'

अत्र, ओजस्विन भटमुकुटमणेर् अश्वत्थाम्न स्फूर्जद् (ऊर्जित-प्रतापाऽनुरूप) वाक्यम्, ओजसा (काव्यगुणेन) उदग्रतामवाप्त, सहस्रगुणमिव विक्रम-औचित्यगौरवम् आवहति। यथा वा भट्टबाणस्य—

—क्या उस कोमलागिनी को खुद एक पिशाच के हाथ सौप देने के लिए, उसकी विकृत भूख तृप्त करने के लिए ? भीरु !

10 सभोग-निरति पर रति-चिह्नो के आकस्मिक स्पश से वासना का पुन तीव्र हो उठना तो पतित-तम दम्पतियो मे भी **अशिष्टता** का ही द्योतक समझा जाता है, जगदम्बा तथा जगद्गुरु मे उसका 'उद्बोधन' करना **प्र**

—कवित्व से पतन की पराकाष्ठा है।

१४

गुण

काव्य मे माधुर्यादि गुणो का सनिवेश अन्तस को एक सर्वथा नूतन पुलक-सा दे जाया करता है—नई जवानी मे जैसे जुन्हाई।

11 'महाप्रलय के तूफान की तरह ज़मीन-आसमान को स्तब्ध कर देने वाला यह लडाई का बिगुल वीर-शिरोमणि अश्वत्थामा को किस कदर भाता है!' **उ**

—ध्वनि की **ओजस्विता** भी चरित्र की तेजस्विता को ही उकसाया करती है।

उ 'हारो जलाऽर्द्र-वसन नलिनी-दलानि 12
प्रालेय-शीकरमुचम् तुहिनाशु-भास ।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि
निर्वाणमेष्यति कथ स मनोभवा-ऽग्नि ॥'

अत्र, विप्रऽम्भभर-भग्नधैर्याया कादम्बर्या विरहव्यथावर्णना—माधुर्य-सौकुमार्यादि-गुणयोगेन (पूर्णेन्दुवदना-इव) प्रियवदत्वेन-हृदयाऽनन्ददायिनी दयित-तमताम् आतनोति। न-तु यथा चन्द्रकस्य—

प्र 'युद्धेषु भाग्य-चपलेषु न मे प्रतिज्ञा 13
—दैंव नियच्छति जय च पराजय च ।
एषैव मे रण-गतस्य सदा प्रतिज्ञा
पश्यन्ति यद् न रिपवो जघन हयानाम् ॥'

अत्र, क्षात्रवृत्तिरिव, ओजसा (काव्यगुणेन)-अस्पृष्टा सुभटोक्तिर् उचितार्थाऽपि (तेजो-जीवितविरहिता, दुर्गतगृह[गता]दीपशिखेव) मन्दायमाना न विद्योतते। यथा वा राजशेखरस्य—

प्र 'एतस्या स्मर-सज्वर करतलस्पर्शै परीक्ष्यो न य 14
स्निग्धेनाऽपि जनेन दाह-भयत प्रस्थपच पाथसाम् ।
निर्वीर्यीकृत-चन्दनौषधविधौ तस्मिस् तडत्-कारिणो
लाजस्फोटममी स्फुटन्ति मणय सर्वेऽपि हारस्रज ॥'

अत्र—विरहविधुररमणी-मनोभवावस्था-ऽनुरूप माधुर्यम् उत्सृज्य—मणयस् (तडत्-कारिणो) लाज-स्फोट स्फुटन्ति इति ओज स्फूर्जित-ऊर्जितस्वभाव-अधिवासिता सूक्तिर् (लावण्यपेशलतनुर्-ललितललनेव परुषभाषिणी) झटित्य-नौचित्य चेतसि सचारयति ।

12 'मोतियो का हार, भीगी चोली, कमल-किसलय, शीतलता छिटकाती चादनी, और चन्दन-रस' ये सुकुमार **ईंधन** जब हो, तो भला विरहाग्नि शान्त होगी या, उलटे, और भडकेगी ? उ

13 'जीत-हार किस्मत के हाथ मे है। क्षत्रिय तो बस एक ही प्रतिज्ञा कर सकता है कि मैं पीठ नही दिखाऊगा।' प्र

—वचन मे ओजस्विता का अभाव हो तो चरित्र की ऊर्जस्विता भी, खण्डहर के **'अब बुझा कि अब बुझा !'** दिये की भाति, अपनी किस्मत पर ही रोयेगी।

14 'विरह-ताप—जो सब शीतल उपचारो को व्यर्थ कर दे, हार के मोतियो को खीलो की तरह तड-तड फोड-बिखेरे, भरे पतीले खौला दे , और तुम हो कि इसकी नब्ज देखने को कहते हो ?!' प्र

—(मनोदशा के अनुकल) **अवसर** था माधुर्य का, तड-तड की अतिशयोक्ति का नही, बड-बड का नही।

१५

अल्कारौचित्य दशयितुमाह्—

अर्थौचित्यवता सूक्तिरलकारेण शोभते ।

पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ॥

प्रस्तुतार्थस्य औचित्येन, उपमा-उत्प्रेक्षा-रूपकाऽदिना अलकारेण सूक्तिश् चकास्ति (कामिनी-इव उन्चकुच-चुम्बिना रुचिर-मुक्ताकलापेन) । यथा श्रीहर्षस्य—

उ 'विश्रान्त-विग्रहकथो रतिमान् जनस्य 15
चित्ते वसन् प्रिय-वसन्तक एव साक्षात् ।
पर्युत्सुको निज-महोत्सव-दर्शनाय
वत्सेश्वर कुसुमचाप इवा ऽभ्युपैति ॥'

अत्र, वत्सेश्वरस्य कुसुमचापेन उपमा, औचित्येन, शृङ्गाराऽवमर-मरसचारु-तरताम् कामपि चेतश्चमत्कारिणीम् आविष्करोति । न-तु यथा चन्दकस्य—

'खगोत्क्षिप्तैरन्त्रैस् तरु-शिरसि दोलेव रचिता, 16
शिवा तृप्ता-ऽहारा स्वपिनि रतिखिन्नेव वनिता ।
तृषाऽर्तो गोमायु सरुधिरमांसि लेढि बहुशो,
बिलाऽन्वेषी सर्पो हतगज-कराऽग्र प्रविशति ॥'

अत्र, अनुचितस्थानस्थिताया पुरुषपिशित-तृप्त-सुप्ताया शिवाया—सुरत-केलिक्लान्त-कान्तया उपमा, विच्छाया-इव, पर-वैपरीत्य प्रकाशयति । यथा वा मालवरुद्रस्य—

'अभिनववधू रोष-स्वाद करीष-तनूनपाद् 17
असरलजना-ऽश्लेष-क्रूरस् तुषार-समीरण ।
गलितविभवस्या ऽज्ञेवा ऽद्य द्युतिर् मसृणा रवेर्
विरहिवनिता-वक्त्रौपम्य बिभर्ति निशाकर ॥'

१५

अलकार

उपमादि अलकारो की योजना बाह्य विलास को एक सर्वथा नूतन स्पर्श-सा दे जाया करती है—नई जवानी मे जैसे मोतियो का हार।

15 'युद्ध समाप्त हो गया। लोग उत्सव मना रहे है। लो, वह (हरदिल-अज़ीज़) उदयन भी अपने अभिन्न-हृदय मित्र (वसन्तक) के साथ इधर ही चले आ रहे है।' उ

—'विग्रह, रति, चित्त, वसन्त क' के **श्लिष्ट** योग द्वारा कवि ने उदयन को नही, मानो, कामदेव को ही पुन—स-शरीर, स-पत्नीक,स-उल्लास, स-विलास–अवाम के साथ रग-रलियो मे ला शामिल किया है!

16 रणभू श्मशान हो गई 'गीदड खून-सनी तलवार से ही लिपट रहा है। साप को बिल की राह नही सूझती, वह मरे हाथी की सूड मे ही घुसा जा रहा है।' प्र

—लेकिन सियारी है कि एक '**रति-खिन्ना नारी**' की तरह, रजी-पुजी, बे-होश पडी है। क्या फूहड उपमा दे डाली, और सोने के लिए उसे 'हिडोला' जुटाया है और वह भी—आसमान मे मडराते पछियो के मुह से गिरती आतो का'!

17 सर्दी का मौसम 'ठडी हवा जो दिल को चीर दे, सूरज है पर गरमी उसमे नही (जैसे गरीबी मे सब रोब जाता रहता है), और बिरहिन-सा बेजान चन्दा', एक ही चीज़ भाती है इन दिनो '**सूखे गोयो की आग**'। प्र

—लेकिन, उसके लिए भी उपमा ढूढ निकालने से बाज न आये

अत्र, कोमल-कामिनीकोपेन करीष-कृशानो सादृश्य शीतसमय-स्वादुतया हृदयमवाद-मुन्दरमपि, अनुचितत्वेन, सहसैव चेतस सकोचमिव आदधाति। यथा वा राजशेखरस्य—

प्र 'चिता-चक्र चन्द्र कुसुमधनुषो दग्धवपुष 18
कलङ्कस् तत्रत्य स्पृशति मलिनाऽङ्गार-कलनाम्।
यदेतत् स-ज्योतिर् दरदलित-कर्पूरधवल
मरुद्भिर् भस्मैतत् प्रसरति विकीर्ण दिशि दिशि ॥'

अत्राऽपि, आनन्दि-सुधाऽवस्यन्द-सुन्दरस्य इन्दोश् चिता-चक्रत्वम्, अनुचिततया, कर्णकटुकम् आतङ्कमिव आतनोति। यस्तु अर्थो हृदय-मवादी, स (यदि अनौचित्य-स्पर्शलेशरहितस्, तद्) अधिकतराम् अलकार-शोभा पुष्णाति। यथा कार्पटिकस्य—

उ 'शीतेनोद्धूषितस्य माषशिमिवत् चिन्ता-ऽर्णवे मज्जत 19
शान्ताऽग्नि स्फुटिता-ऽधरस्य धमत क्षुत्-क्षामकण्ठस्य मे।
निद्रा क्वाऽपि विमानितेव दयिता सत्यज्य दूर गता
मत्पात्र-प्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी ॥'

अत्र, अनौचित्य (स्पर्श) परिहारेण—केवल हृदयसवाद-सौन्दर्यमेव स्वादुताम आदधाति।

१६

रसौचित्य दर्शयितुमाह—

कुर्वन् सर्वाऽशये व्याप्तिम् औचित्यरुचिरो रस।
मधुमास इवाऽशोक करोत्य ऽङ्कुरित मन ॥

औचित्येन भ्राजिष्णु शृङ्गारादिलक्षणो रस सकलजन-हृदयव्यापी (वसन्तऽ-इव अशोकतरुम्) मनो अङ्कुरित करोति।

'नई बहू के गुस्से की तरह चस देने वाली' !—किसका दिल बैठ नही जायगा ?

18 'यह चन्द्रमा नही, कामदेव की चिता जल रही है, यह चन्द्र-कलङ्क नही, कामदेव की दग्धावशेष, कोयला रह गई, अस्थिया है, यह चादनी नही, श्मशानभूमि की हवाओ की बिखेरी उसकी राख है।' प्र

—अमृत सरसाने वाले चन्दा की उपमा और अ-भव्य चिता के साथ कौन क्षम्य कहेगा उसे ? भव्यता की योजना कुछ मुश्किल हो शायद, **अभव्यता** के परिहार द्वारा स्वभावोक्ति की रक्षा तो हो ही सकती थी —

19 'सरदी का मारा इन्सान, फिर चिन्ता मे (जैसे समन्दर मे डूबती-उतरती धान की वाली हो), फटे होठो से ही बुझते अगारो को फूक रहा है, भूख से खुश्क गला, नीद गायब (जैसे बीवी रूठ गई हो), ओर रात है कि, भले आदमी को दान-दी जमीन की तरह ,खत्म होन मे नही आती।' उ

—कुछ भी नही जोडा, पर रूठी बीवी के स्मरण से **अनवस्थित नहीं हुए**—अभव्यता मे गोते खाने नही लगे ।

१६

रस

और शृङ्गारादि रसो का उदयन सम्पूर्ण बहिरन्तस को-ही एक सर्वथा नूतन अभिव्याप्ति-सी, एक सर्वथा नूतन स्फूर्त्ति-सी, दे जाया करता है—नई जवानी मे जैसे वसन्त ।

यथा श्रीहर्षस्य—

उ 'उद्दामोत्कलिका विपाण्डुर-रुचं प्रारब्ध-जृम्भां क्षणाद् 20
आयासं श्वसनोद्गमैरविरलैर् आतन्वतीम् आत्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां स-मदनां नारीमिवा ऽन्यां, ध्रुवं,
पश्यन् कोप-विपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥'

अत्र, ईर्ष्या-विप्रलम्भरूपस्य शृङ्गाररसस्य (वासवदत्तायाम्-अवेक्ष्यमाणस्य) ललितवनिता-तुल्यतया नवमालिका-लताया विरहावस्था-ऽरोपणेन, नितराम्-औचित्य-रुचिर-चमत्कारकारिणी दीप्तिरुपपादिता । यथा वा कालिदासस्य—

उ 'बालेन्दुवक्राण्य ऽविकासभावाद् बभुः पलाशान्य ऽतिलोहितानि । 21
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥'

अत्र, पार्वत्यां परमेश्वरस्य अभिलाष-शृङ्गारे वक्ष्यमाणे, प्रथमम्—उद्दीपन-विभावभूतस्य वसन्तस्य वर्णनायां कामुका-ऽध्यारोपेण, वनस्थली-ललनानां (कुटिल-लोहित-पलाशकलिकाभिर्) उत्प्रेक्षितानि नवसंगमयोग्य-नखक्षतानि परमाम्-औचित्यचारुतां प्रतिपादयन्ति । न-तु यथा अस्यैव—

'वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः । 22
प्रायेण सामग्र्य-विधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥'

अत्र—केवल-कर्णिकारकुसुम-वर्णनमात्रेण विधातृवाच्यता-गर्भेणैव (प्रस्तुत-शृङ्गाराऽनुपयोगिना) तदुद्दीपन-विभावोचितं न-किंचिद् अभिहितम् ।

शृङ्गार

20 'बगिया मे यह—अगडाइयो मे खुलती-सी, हवा के झकोरो पर इठलाती, नये रगो मे लहराती, कलियो की बहार मे फूट उठी—नवमालिका है ? या—जभाइयो मे, आहो मे, मुरझा चुकी—कोई बिरहिन है? जिसकी जवानी ('अपने परदेसी' को अचानक सामने देखकर) बेकाबू हो उठी है!' उ

—सहसा उदयन के मन मे आया 'क्यो-न ? (और आज ही, अभी)—वासवदत्ता को जबरदस्ती यही खीच लाऊ और (उसके सामने 'निर्लज्जतापूर्वक' एक प्रेमी की अभिप्राय-भरी निगाहो से लता को एक-टुक देखता रह जाऊ!—**ईर्ष्या** मे कैसी लाल-पीली हो उठेगी मेरी प्यारी!—हू!—अच्छा शुगल रहेगा!'

21 प्रकृति मे हर-सू व्याप्त यह लाली—पलाश की अवखिली कोपलो की नही, पी' के नव-समागम मे प्रेयसी की पर्युत्सुक देह पर (द्वितीया के चाद की तरह बाके और उन्मादक) नख-चिह्न है। उ

—शिव-समागम के **अभिलाष** मे शराबोर (पार्वती की) आखो मे बसन्त एक प्रेमी के अतिरिक्त और-क्या हो सकता था ?

22 'वसन्त ने आते-ही शिव को स्खलित करने के लिए प्रकृति को उद्दीपनो की रगस्थली बना दिया।' प्र

—इस प्रसग मे कर्णिकार के रगो पर, और गन्धविहीनता पर, दृष्टि पडते ही कवि, स्पष्ट ही, च्युत (तथा, **उद्दीपनाभावात्**, व्यर्थ विधाता पर दोषारोपण मे प्रवृत्त) होगया प्रतीत होता है!

हास्यरसे यथा मम लावण्यवतीनाम्नि काव्ये—

उ 'सीधु-स्पर्शभयाद् न चुम्बसि मुखम् ?—किं नासिका गूहसे ? 23
रे रे श्रोत्रियता तनोषि विषमाम्—मन्दो ऽसि वेश्या विना !
—इत्युक्त्वा मद-घूर्णमाननयना वासन्तिका मालती-
लीनस्या ऽत्रिवसो करोति बकुलस्येवा ऽसवासेचनम् ॥'

अत्र, श्रोत्रियस्य अत्रिवसो (अपवित्र) सीधुस्पर्श-शङ्कासकोच-निलीनस्य, (शुष्क) बकुलवृक्षस्येव सरसता-ऽऽपादनाय, वेशविलासिन्या यद् आसवा-ऽऽसेचन तत्—अङ्गभूत-शृङ्गाररसाऽऽभास-स्पर्शेन हास्यरसस्य (वराऽऽसवस्य-इव सहकाररस-वेधेन) स-चमत्कारम् औचित्यम् आचिनोति। यथा वा मम लावण्यवत्यामेव—

उ 'मार्गे केतकसूचि-भिन्नचरणा सीत्कारिणी केरली 24
रम्य रम्यमहो पुन कुरु विटेनेत्यर्थिता सस्मिता ।
कान्ता दन्तचतुष्कबिम्बित-शशिज्योत्स्ना-पटेन क्षण
धूर्ताऽऽलोकन-लज्जितेव तनुते, मन्ये, मुखा-ऽऽच्छादनम् ॥'

अत्राऽपि हास्यरसस्य (कुटिलविट-नर्मोक्ति-वचनौचित्येन शृङ्गाररसाऽऽभास-अधिवासितस्य) स-चमत्कार पर परिपोष समुन्मिषति। न-तु यथा श्यामलस्य—

इ 'चुम्बन-सक्त सो ऽस्या दशन च्युतमूलमात्मनो वदनात् । 25
जिह्वामूल-प्राप्त खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत् ॥'

अत्र, हास्यरसस्य बीभत्सरसा-ऽधिवासितस्य (लशुनलिप्तस्येव कुसुमशेखरस्य, अतिजुगुप्सितत्वाद्-अनीप्सितस्य) परम-अनौचित्येन चमत्कारस् तिरोहित । वृद्धा-परिचुम्बने जिह्वामूल-प्राप्तस्य च्युत-दशनस्य, कण्ठ-लोठिन, ष्ठीवनेन बीभत्सस्यैव प्राधान्यम (न-तु हास्यरसस्य)।

हास्य

23 माल्ती लेटी हुई है और मित्रावसु, उसके ऊपर झुकता, खडा है, लेकिन रसीले होठो को उसके चूम नही लेता। तभी 'डरते हो?—शराब न छू जाय ?'—वासन्ती न पीछे से आख मारी 'अच्छे श्रोत्रिय बने हो कि मामूली-सा काम भी, वेश्या की सहायता के बगैर, नही कर सकते ? तो, यह लो—' उ

और उसने ब्राह्मण-देवता पर, जितनी मुह मे भरी थी, **उगल दी** (जैसे सूखा बकुल भी किसी तरह हरा-भरा किया जा सकता हो) ! और इस श्रृङ्गाराभास ने (वासन्ती के) हास्य को, सचमुच ओर भी चमका दिया है।

24 रास्ते चलते-चल्ते एक काटा सो'नी के पैर मे क्या चुभा कि इधर उसके मुह से बरबस एक 'सी' निकल गई ओर उधर-से किसी अवारा का मुह खुल गया 'मै वारी जावा, सो'णेओ, इक **सी** होर !' सो'नी भोली थी, मुसकरा दी। तभी—चन्द्रकिरणो ने, मानो, जवानी की लाज ढकने की खातिर (कि बेचारी पर एक लम्पट की बुरी नज़र जो पड गई थी), उसके चार-दातो पर फिसलते-हुए एक **चुनरिया**-सी बुन दी ! उ

—श्रृङ्गाराभास ने हास्य को, एक बार फिर, उठा दिया है।

25 'बुढिया की चुम्मी'—सुनते ही हसी आती है। लेकिन, चूमना भी ऐसा कि एक खूसट दात उखड जाय ओर, सीधे, बेढब-बनारसी के गले मे पहुचकर ही दम ले कि बचारे की खाट्-खाट् थूकते भी जान न छूटे ! प्र

—लेकिन हास्य पर **बीभत्स हावी** हो गया (जैसे मौलि के फूलों मे 'लिपटी' लहसन की एक गास) !

करुणे, यथा मम मुनिमतमीमामायाम्—

उ 'प्रत्यग्रोपनता-ऽभिमन्युनिधने हा वत्स हा पुत्रके- 26
त्यश्मद्रावि सुभद्रया प्रलपित पार्थस्य यत् (तत्) पुर ।
येनोद्वाष्प-विमुक्तशष्पकवलै सेनातुरगैरपि
न्यञ्चत्पार्श्वगतैककर्णकुहरैर् नि स्पन्द-मन्द स्थितम् ॥'

अत्र—प्रत्यग्रोपनत-प्रियतरतनयवियोग-उपजनितशोकाऽख्य-स्थायिभावोचित दृषदामपिहृदय-द्रावण सुभद्रया यत् प्रलपित, तद् न-केवलम् अर्जुनचेतसि-प्रतिफलित उद्दीप्ततामुपगतम्—यावत् तिरश्चा तुरगमाणामपि (अन्त -सक्रान्तम्) उद्वाष्प-विमुक्तशष्पकवल-नि स्पन्दस्थिता-ऽदिभिर् अनुभावैर् उदीर्ण-तरुणकरुण-रसप्रतिपत्ति किमपि अदधाति । न-तु यथा परिमलस्य—

प्र 'हा शृङ्गारतरङ्गिणी-कुलगिरे हा, राज-चूडामणे, 27
हा सौजन्य-सुधानिधान, हहहा वैदग्ध्य-दुग्धोदधे ।
हा देवोज्जयिनी-भुजग, युवति-प्रत्यक्षकदर्प हा,
हा सद्-बान्धव, हा कला-ऽमृतकर—क्वा ऽसि ? प्रतीक्षस्व न ॥'

अत्र—हाहेति हतमहीपति-विरहे तद्गुण-आमन्त्रपदर् वक्तृ (वक्त्र) गत एव शोक केवलम् उपलक्ष्यते । न तु विभावा-ऽनुभाव-व्यभिचारि-सयोगेन शोकाऽख्यस्य स्थायिभावस्य उचित रसीकरण किंचिद् निष्पन्नम् ।

रौद्रे, यथा भट्टनारायणस्य—

उ 'यो-य शस्त्र बिभर्ति स्वभुज-गुरुमद पाण्डवीना चमूना 28
यो-य पाञ्चाल-गोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्या गतो वा ।
यो-य न् तत्कर्म-साक्षी चरति मयि रणे यश्च-यश्च प्रनीप
क्रोधाऽन्धस् तस्य-तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्या ऽन्तको ऽहम् ॥'

अत्र—क्रूरक्रोध-स्थायिभावाऽत्मकस्य उन्निद्ररौद्ररसस्य-उचिता शिशु-स्थविर-

करुण

26 अभी-अभी अभिमन्यु की मृत्यु हुई है। सुभद्रा की दर्द-भरी चीख से, अर्जुन तो अर्जुन, पत्थर भी दहल जाते पास खडे घोडो की आखे (एक मूक नि श्वास के साथ) उमड आई, मुह से घास छूट गई उनकी, और कान उनके निस्तब्ध लटक गये । उ

ताज़ी मौत और ताज़ा गम—किस तरह ससार को **व्यथा** मे बोर देता है ।

27 पति की मृत्यु पर रानी का उसके 'प्रेमालापो को, सोजन्य, वैदग्ध्य को, गान्धर्व-लीलाओ और काम-कलाओ' आदि को याद कर-कर के निर्वंश-रोना स्वाभाविक है, लेकिन, इन स्मृतियो मे श्रोताओ को विह्वल करने की क्षमता (अनुभावादि न होने से), विधवा का गम उसकी 'अपनी पीर' बन कर ही रह जायगा —वह एक '**सर्व-सवेद्य** रस' हरगिज **नहीं** बन सकता। प्र

रौद्र

28 पितृवध की निर्घृणता ने अश्वत्थामा को क्रोधान्ध कर दिया है। वह आज अपने वश मे नही—उसकी घोर प्रतिशोध-**प्रतिज्ञा** उस कुकृत्य के (साक्षियो की हृदयशून्यता के) अनुकूल ही है, वह अब पाण्डव-मात्र की मौत बन कर निकला है 'अपने शस्त्रास्त्र पर, क्षात्रबल पर, अभिमान करने वाला महारथी हो या निरस्त्र बूढा, बाला, अ-जात—कोई भी हो (लेकिन पाण्डव उ

गर्भगत-विशसन-निस्त्रिंशकर्माऽध्यवसाय-अविरोहणसंवादिनी द्रोणवधविधुर-अमर्ष-(विष) विषम-व्यथा (कश्मल) शिथिलम् अश्वत्थाम्न स्थेमान प्रतिज्ञापयति । न-तु यथा श्रीप्रवरसेनस्य—

प्र 'दणुइन्दरुहिरलग्गे जस्स फुरन्ते णहप्पहा-विछड्डे । 29
गुप्पन्ती विवलाआ गलिअव्व-थणसुए महासुरलच्छी ॥'

अत्र, क्रोधव्यञ्जकपद-विरहिततया 'दनुजेन्द्ररुधिरलग्ने यस्य नरसिंहस्य स्फुरति नखप्रभासमूहे व्याकुलीभवन्ती विपलायिता गलितस्तनांशुका महासुरलक्ष्मी'—इति वर्णनया 'रुधिरलग्न' इति बीभत्सरससंस्पर्शेन, 'व्याकुलीभवन्ती दैत्य-श्री पलायिता'—इति भयानकरस संकरेण प्रकृतोचितप्रधानभूतस्य रौद्ररसस्य क्वचिद्मुखमपि न दृश्यते ।

वीरे, यथा मम नीतिलतायाम्—

उ 'शौर्या-ऽराधितभर्ग-भार्गवमुने शस्त्रग्रहोन्मार्गिण 30
संक्षेपेण निवार्य संक्षयमयी क्षत्रोचिता तीक्ष्णताम् ।
आकर्णा-ऽयतकृष्ट-चापकुटिल-भ्रूभङ्गसंसर्गिणा
येना ऽन्याय-निषेधिना[1] शममयी ब्राह्मी प्रदिष्टा स्थिति ॥'

अत्र—'सोऽयं राम' इति रावणाऽग्रे शुकसारणाभ्यां दूराद्-निर्दिश्यामानस्य रामस्य निःसरम्भ[2]-गम्भीर[3]-अवष्टम्भ-संभाव्यमानप्रभाव-उचिताया (शस्त्रसंग्रह-उन्मार्गगामिनो भार्गवस्य मुने स्वजाति-समुचितस्थिति-उपदेशे) प्रभविष्णुताया सति चाप (रूप) भङ्ग्या भ्रू-भङ्ग प्रदर्शित, न स स्वाभाविक—[4]वीरस्य क्रोधे विकारा-ऽसंभवात् । प्रसन्न-मधुर-धीरा हि वीरवृत्ति । तद् उचितमत्र अभिहितम् । भार्गवा-

होना चाहिए) साक्षात् 'जग परलो' बन गया है वह! उसे लिहाज ?

29 भगवान् (नृसिह) ने, हिरण्यकशिपु से धरा को मुक्त कराने के लिए, अवतार लिया है दैत्यराज की छाती फट चुकी है ! **प्र**

—असुरो की महालक्ष्मी को और-आगे देख सकने की हिम्मत नही। कहा जाकर मुह छुपाये ? वह, वेतहाशा, भाग खडी हुई उसकी चाली जवाब दे गई

—अभीष्ट तो था रौद्र रस का परिपाक परन्तु, (नृसिह के भास्वर नखो का **रुधिर-दिग्ध** कर के) कवि ने कुछ बीभत्स-स्पर्श की, और—हत-सज्ञ रानी के **पलायन** मे 'भयानक' के आमन्त्रण द्वारा कुछ —रस-साकर्य की भी अनिष्टता ला दी है।

वीर

30 शुक और सारण, दूर खडे-खडे ही, रावण को दिखला रहे है कि 'यह है राम—जिसने परशुराम की क्षत्रियो को तहस-नहस करने की प्रवृत्ति को एक भ्रूभग द्वारा ही ब्राह्मणोचित शान्ति का उपदेश पढा डाला!' **उ**

—किन्तु परिस्थितियो की विषमता मे भी अविचाली[२]-गम्भीर, एक सदा-प्रसन्न-मधुर, [४]धीरोदात्त[३] पात्र मे क्रोध तथा **भ्रूभग** का आना स्वाभाविक प्रतीत नही होता। इस आशका का परिहार कवि ने 'शिव-धनुष के भग मे ही भ्रूभग' के आरोप द्वारा कर दिया है। दूसरे—परशुराम भी कोई मामूली पुरुष नही थे कितने वर्ष कठोर तप करके उन्होने जृम्भास्त्रादि को प्राप्त किया था। एक 'राजर्षि होने की हवस' ही उनकी नितान्त अब्रह्मण्य थी और अन्याय्य[१] थी, खैर से, यह दुर्बलता

ऽभिभवेन च प्रधाननायकस्य-उत्कर्ष प्रतिपादित । यथा वा राजशेखरस्य—

उ 'स्त्रीणा मध्ये मलीऽ अमितगुरुगदा-ऽघात-निर्नष्टसंज्ञ 31

सद्यो वध्यो ऽभवम् त्व पशुरिव विवशस् तेन राज्ञा ऽर्जुनेन[1] ।

तस्य च्छेत्तापि यो ऽभो सकल(नृप) रिपुर् जामदग्न्यो भुजानाम्

जित्वोच्चै सोऽपि येन द्विज इति न हत ——तापसस् त्वेष राम ॥'

अत्र रावण-कार्तवीर्य[2]-जामदग्नि-(उत्कर्षोत्कर्षतर)-सोपानपरम्पराऽधिरोहण-क्रमेण प्रधाननायकस्य प्रताप परा काटिमारोपित । न-तु यथा भवभूते —

प्र 'वृद्धास्ते न विचारणीय-चरिताम् तिष्ठन्तु, [1]हु वर्तताम् 32

युद्धे स्त्रीदमनेऽप्य ऽखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते ।

यानि त्रीणि कुतो-मुखान्यपि[2] पदान्या ऽसन् खरा-ऽयोधने

यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यऽभिज्ञो जन ॥'

अत्र—अप्रधानस्य रामसूनो कुमारलवस्य परप्रताप(उत्कर्षा)-असहिष्णोर्वीर-रसोद्दीपनाय सकलप्रबन्ध-जीवित(सर्वस्वभूत)स्य प्रधाननायक-गतस्य वीररसस्य ताडकादमन-खररणाऽपसरण-(अन्यरणमसक्त)वालिव्यापादनाऽदि (जनविहित)-अपवादप्रतिपादनेन स्व-वचसा कविना विनाश कृत इति अनुचितमेतत् ।

भयानके, यथा श्रीहर्षस्य—

उ 'कण्ठे कृत्ता[1]-ऽवशेष कनकमयमध श्रृङखलादाम कर्षन् 33+

क्रान्त्वा द्वाराणि हेला-चलचरणरणत्-किङ्किणीचक्रवाल ।

दत्ता-ऽतङ्को ऽङ्गनानाम् अनुसृत-सरणि सम्भ्रमाद् अश्वपालै

प्रभ्रष्टो ऽय प्लवङ्ग प्रविशति नृपतेर् मन्दिर मन्दुराया ॥

उनकी राम के स्वभावत प्रशान्त[२] चरित्र को, विरोधिता के मिस, और भी उज्ज्वल प्रदर्शित कर गई।

31 'याद है?—सहस्र-बाहु[१] से डर कर तुम कभी अन्त पुर मे जा छुपे थे और उसकी गदा के एक ही प्रहार से बेहोश हो गये थे। लेकिन परशुराम ने उसकी भी सारी भुजाएं काट डाली थी। और यह है राम—तपोमूर्त्ति राम—जिन्होने परशुराम को, हरा कर भी, **बख्श दिया** था कि 'ब्रह्महत्या का पाप म नही कर सकता'। उ

—'वीर' के उत्तरोत्तर उत्कर्ष की पराकाष्ठा और यह मर्यादा-पुरुषोत्तम के चरित की एक झाकी-भर है।

32 'बुजुर्गों के बारे मे किसी की जुबान-न-खुलने' मे ही सबका भला होता है, क्योकि उनकी कीर्ति ना—एक औरत को मार कर भी, लडाई मे तीन बार दुम दबाकर भा, पीठ-पीछे से छुरा मार कर भी—अक्षुण्ण ही बनी रहती है।' प्र

—हम लव की पर-प्रताप-असहिष्णुता के कायल जरूर हैं, लेकिन उसे चमकाने के लिए कवि का स्वय मर्यादापुरुषोत्तम के वीर-चरित से 'तारका-वध, खर-सघर्ष, तथा बालि-हत्या[३]' का **हवाला** दिलवाने की अशिष्टता को हम क्षम्य कदापि नही कह सकते।

भयानक

33 + घुडसाल मे एक बन्दर छूट निकला है और महल मे घुसता चला आ रहा है—गले मे टूटा हार[१], पैरो मे बेडिया और घुघरू, और फिर उसका वह किटकिटाना और खरोचना। पीछे-पीछे उसके, पकडने के लिए, अश्वपाल भी दौडे आ रहे है औरतें भीगी-बिल्ली बन गई—दुबके भी, तो उ

अपि च—

नष्ट वर्षवरैर् मनुष्यगणनाऽभावाद अकृत्वा त्रपाम्, +34
अन्त कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासाद् अय वामन ।
पर्यन्ता-ऽश्रयिभिर् निजस्य सदृश नाम्न किराते कृतम
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैर् आत्मेक्षणा-शङ्कित [3] ॥'

अत्र—अङ्गनाना निशितदशन-नखशिखोल्लेख-आतङ्कदानेन प्रचुरनर-वानरा-ऽभिसरण-भयसम्भ्रान्त-अन्त पुरिक-वृद्ध-वामन-किरात-कुब्जाऽदीना पुरुषगणना-विहीनतया धैर्यविरह-कातराणाम् उचितचेष्टा-ऽनुभाववर्णनया भयानकरससवादि स्चिरम् औचित्यम् आचकास्ति । न-तु यथा (राजपुत्र) मुक्तापीडस्य—

प्र 'नीवारप्रसराऽग्र-मुष्टिकवलैर् यो वर्धित शैशवे 35
पीत येन सरोजपत्र-पुटके होमाऽवशेष पय ।
त दृष्ट्वा मदमन्थरा-ऽलिवलय-व्यालोलगण्ड गज
साऽऽनन्द सभय च पश्यति मुहुर् दूरे-स्थितस् तापस ॥'

अत्र—गजस्य (आघातक-विकृत) चेष्टाऽनुवर्णना-विरहिततया स्थायिभावस्य भया-ऽनुभाववर्जितस्य[1] केवल नाममात्रोदीरणेन च भयानकरसोचित-[1]सम्भ्रमाऽभावाद् उपचितम् औचित्य न-किंचिद् उपलभ्यते ।

बीभत्से, यथा मम मुनिमतमीमासायाम्—

ब्र 'सर्वा-ऽपाय-चया-ऽश्रयस्य नियत कुत्सा निकायस्य कि 36
कायस्याऽस्य विभूषणै सुवसनैरानन्दनैश्चन्दनै ।
अन्तर् यस्य शकृद-यकृत्-कृमिकुल-क्लोमा-ऽन्त्रमाला-ऽकुले
[1]क्लेदिन्य ऽन्तदिने प्रयान्ति विमुखा कौलेय-काका अपि ॥'

अत्र—वैराग्य (वासना) च्छुरित-बीभत्सरसस्य जुगुप्साऽख्य-स्थायिभावोचित-कायगत-कुत्सिततर-आन्त्रतन्त्राऽदि-समुदीरणेन परा परिपुष्टिर् नि सार-शरीरा-ऽभिमान-वैरस्यजननी प्रतिपादिता । न-तु यथा चन्दकस्य—

पनाह नही। बूढे कचुकी, बौने, किरात, और कुबडे—इन्हे इन्सानो मे +34
गिनना ही कौन है ? (लाज-शरम छोड) सबको [२]अपनी-अपनी पडी है।

—औरतें तो रही ही अ-बला, और बाकियो को जाने बला। डर मे हर किसी की **चेष्टा** प्राकृतिक, अपने-अपने अनुरूप ही, जच रही है।

35 'तापस, दूर खडा, हाथी को देख रहा है कि कैसे वह मस्तक पर टूटते भौंरो का उडा रहा है! इसे कभी तापस ने खुद अपने हाथो पाला था। आज उसे जवानी मे देखकर वह कितना खुश है—ओर कुछ-कुछ डर भी' प्र

—पर डर पैदा करने वाली परिस्थिति कहा है (हाथी की वे करतूतें कहा है)?[१]

बीभत्स

36 'क्यो लोग इस मल-मूत्र के पुतले को महगे-महगे गहनो, कपडो, इतर-खुशबू से सजाते है ?—एक दिन जब (मुरदा सडने[१] की) नोबत आवेगी, कुत्ते-कौवे तक इसे छोड भागेगे।' उ

—शरीर का **सच्चा भेद** मालूम पडते ही हमारा मन देह-गत झूठे अभिमानो से विमुख हो जाता है—वैराग्य मे प्रवृत्त हो जाता है।

प्र 'कृश काण खञ्ज श्रवणरहित पुच्छ-विकल 37
क्षुधा-क्षामो रूक्ष पिठरक-कपाला-ऽर्दितगल ।
व्रणै पूति-क्लिन्नै कृमिपरिवृतैरावृततनु
शुनीमन्वेति श्वा—तमपि मदयत्येव मदन ॥'

अत्र, अशुचि(चर्वण)रुचेर् उपचित-विचिकित्सा-कुत्सा-निकाय-कायस्य स्वभाव-जुगुप्सित-योने शुनकस्य—क्रिमेतैर् बीभत्स-विशेषणैर् अतिशयनिर्बन्धा-ऽनुबद्धैर् अधिकमुद्भासितम्। एतैरेव पुरुषगतैर् जुगुप्सा पर-गौरवम् आवहति ।

अद्भुते, यथा चन्दकस्य—

उ 'कृष्णेना ऽम्ब गतेन रन्तुमधुना मृद् भक्षिता स्वेच्छया ।' 38
'सत्य, कृष्ण ?' 'क एवमाह ?' 'मुसली' 'मिथ्या, ऽम्ब, पश्या ऽननम् ।'
'व्यादेही'-'ति विकासिते ऽथ वदने दृष्ट्वा समस्त जगद्
माता यस्य जगाम विस्मयपदम्—पायात् स व केशव ॥'

अत्र, (पाण्डुर-अङ्कुरस-अक्षिलक्षित)मृद्भक्षणा-ऽक्षेप-उद्यत-जननी-भय-चकितस्य अपह्नवकारिण शिशोर्—विकासित-आस्यस्य अन्त समस्तजगद्-दर्शनेन, मातुश्च तत् प्रभाव-अनभिज्ञतया वात्सल्य-विह्वलाया विस्मय-गमनेन अत्युचितो-ऽयम् अद्भुताऽतिशय । न-तु यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

प्र 'समस्ता-ऽश्चर्याणा जलनिधिरपार स वसति, 39
ततो ऽप्याश्चर्य यत्—पिबति सकल त किल मुनि ।
इद त्वत्याश्चर्य लघुकलश-जन्माऽपि यदसौ ।
—परिच्छेत्तु को वा प्रभवति तवा ऽश्चर्यसरणिम् ॥'

अत्र—अपार-सरित्पति-प्रभावेन, मुनिना तस्य एकचुलक-आचमनेन, मुनेश्च लघुकलशजन्मना, क्रमा-ऽक्रान्तिसमारूढोऽपि असम-विस्मयमयो अयमद्भुतप्रसर, ससारस्य एवविधा-एव आश्चर्यसरणिर् अपरिच्छिन्ना, न किंचिद् एतत् कौतुकम् —इति अर्थान्तरन्यास-सामर्थ्येन सहसैव (अवरोपित-इव) तिरोभूततामुपगत ।

37 'इन्द्रिया जवाब दे चुकी है, शरीर गल चुका है, सड रहा है, घिनोने प्र
कीडे चिपट रहे है, लेकिन—**ठरक**[१] अब भी नही गई !'

—जिस घृणा को जगाने के लिए यह वर्णन पेश है, उसमे क्या कुत्ते की बजाय (जो कि स्वभाव से ही पतित होता है)[२] इन्सान के ज़रिये वही नफरत बेहतर न जचती ?

अद्भुत

38 'मा, मा—कान्हा मिट्टी खा रहा है !' 'सच ?' 'और नही तो ?' 'इधर उ
आना, कृष्ण ज़रा मुह तो खोलना—क्या भर लिया है?' और यशोदा—बालकृष्ण के **मुह मे लोकलोकान्तर** देख कर चकित रह गई !

—[१]वह मा ही थी, ना [२]भोली क्या जाने भगवान् की लीला को ?

39 'समुद्र का अपार-अगाध वैभव ! उसे भी एक मुनि एक घूंट मे पी प्र।
जाय ! और मुनि भी वह जो कि एक छोटी-सी घडिया से जन्मा हो।'

—'संसार आश्चर्यों का 'अ-पार'[१] प्रागण है !' जोड कर, कवि ने, जैसे आश्चर्य की उम उत्तरोत्तरी को **एकदम ठप** कर डाला !

शान्ते, यथा मम चतुर्वर्गसंग्रहे—

उ 'भोगे रोगभयं, सुखे क्षयभयं, वित्तेऽग्नि-भूभृद्-भयं, 40
दास्ये स्वामिभयं, गुणे खलभयं, वंशे कुयोषिद्-भयम् ।
माने म्लानिभयं, जये रिपुभयं, काये कृतान्ताद् भयम्,
—सर्वं नाम भवे भवेद् भयमहो, वैराग्यमेवाऽभयम् ॥'

अत्र—सकलजनाऽभिमत-भोगसुखवित्ताऽऽदीनां (भयमयतया) हेयतां प्रतिपाद्य, वैराग्यमेव सकलभयाऽऽयास-शमनम् (उपादेयतया) यद् उपन्यस्तं, तेन—शान्तरसस्य 'निरर्गलमार्गा-ऽवतरणम् उचिततरम्-उपदिष्टं भवति । यथा वा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

उ 'कुसुमशयनं पाषाणो वा, प्रियं भवनं वनम्, 41
प्रतनु मसृणस्पर्शं वासस्—त्वगप्यथ तारवी ।
सरसमशनं कुल्माषो वा, वनानि तृणानि वा,
—शमसुख-सुधापानक्षैब्ये[1] समं हि महात्मनाम् ॥'

अत्र—सकलविकल्प (तल्प) रहित-अभेदाऽवभासमान-आत्मतत्त्व-विश्रान्ति जनित-सर्वसाम्यसमुल्लसित (शमसुख) पीयूषपानोदित-नित्याऽऽनन्द-घूर्णमानमानसानां प्रियाऽप्रिय-सुखदुःखाऽऽदिषु महता [2]सदृशी प्रतिपत्तिरिति—जीवन्मुक्ति-समुचितम् अभिहितम् । न-तु यथा श्रीमदुत्पलराजस्य—

प्र 'अहौ वा हारे वा, बलवति रिपौ वा सुहृदि वा, 42
मणौ वा लोष्ठे वा, कुसुमशयने वा दृषदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम सम-दृशो यान्तु दिवसाः
क्वचित् पुण्याऽरण्ये शिव-शिव-शिवेति प्रलपतः ॥'

अत्र—जीवन्मुक्तोचितं प्रियाऽप्रिय-रागद्वेष-उपशमलक्षणं-मोक्षक्षमं सर्वसाम्यम् -अहिहार-सुहृदरि-समदृष्टिरूपम् अभिदधता, क्वचित् 'पुण्याऽरण्ये' यद् अभिहितं,

शान्त

40 'भोग है तो रोग भी साथ ही है। सुख, सम्पत्ति, चाकरी, गुणाभिमान, वंश-गौरव, विजय—क्या है यहा जिसके साथ कुछ-न-कुछ 'भय की **तन्मात्रा**' न जुडी हुई हो। उ

—वैराग्य की निर्भय' वृत्ति ही जीवन मे एकमात्र उपादेय तथ्य है।

41 आत्मबोध जगते ही मनुष्य सर्वत्र एकात्मभाव अनुभव करने लगता है। वह समदृष्टि[2] हो जाता है, शान्त-चित्त हो जाता है, और आत्म-विभारता[1] मे ही परम सुख पा लेता है।' उ

—'एसे जीवन्मुक्त को जगल क्या और महल क्या ?' उसका जीवन ही **अद्वैत** का जीता-जागता प्रमाण है, एक जीवित सिद्धि है।

42 [3]आत्मबोध की विमल ज्योति से प्रसादित होकर जो एकबार जीवन्मुक्त हो गया—एकात्मता[1] की स्वानुभूति द्वारा सब भेदभावो-द्वन्द्वो[2] से ऊपर उठ चुके समदृष्टि जीवन्मुक्त के लिए तो सारा ससार ही 'शिव'-मय है। प्र

—क्या दुनिया का कोई खास कोना ही, शिव-जाप के लिए उपयुक्त (एकमात्र) पुण्यतीर्थ है (जहा पहुचने की **हवस अब भी** साधु जी के

तद्, विकल्प-प्रतिपादकम् अभेद (वासना) विरुद्धम् अनुचितम् अवभासते। धाराऽधि-रूढ-सर्वसाम्य[1]-विगलित-भेद (अभिमान) ग्रन्थेर्[2]-हि, सर्वत्र सर्व शिवमय पश्यत, तपोवने नगराऽवस्करकूटे च विमल-आत्मलाभ-तृप्ततया[3] समान-दृश 'क्वचित् पुण्याऽरण्यादि' वचनम् अनुचितोच्चारणमेव।

१७—१८

यथा मधुरतिक्ताऽद्या रसा कुशल-योजिता।
विचित्राऽऽस्वादता यान्ति शृङ्गाराऽद्यास् तथा मिथ॥
तेषा परस्पराऽश्लेषात् कुर्याद् औचित्य-रक्षणम्।
अनौचित्येन सस्पृष्ट कस्येष्टो रस-सकर॥

रसा कटुक-मधुर-आम्ल-लवणाऽद्या कुशल-सूदेन वेसवार-पानाऽदिषु योजिता विचित्राऽऽस्वादताम् उपयान्ति। तथैव—परस्परम्-अविरुद्धा[1] शृङ्गारादय इति। तेषाम् अन्योऽन्यम्-अङ्गाऽङ्गिभाव[2]-योजनायाम् औचित्यस्य जीवित (सर्वस्व) भूतस्य रक्षा कुर्यात्। अनौचित्य-रजसा[3] स्पृष्टो रस-सयोग न कस्यचिद् अभिमत इत्यर्थ।

रससकरौचित्ये, शान्त-शृङ्गारयो अङ्गाऽङ्गिभावो, यथा भगवतो महर्षेर्व्यासस्य—

उ 'सत्य मनोरमा रामा, सत्य रम्या विभूतय। 43
कि तु मत्ताऽङ्गनाऽपाङ्ग (भङ्गि)-लोल हि जीवितम्॥'

अत्र—भगवता, जन्तुहिताऽभिनिविष्टेन[1], मोक्षक्षम-उपदेशे अङ्गिन शान्तरसस्य रागिजन-अनिष्टत्वात्, सकलजन-मन प्रह्लादने [2]बाल-गुडजिह्विकया, शृङ्गारे-अङ्गभावमुपनीते [3]पर्यन्ते शान्तस्यैव (लोल जीवितमिति—अनित्यता-प्रतिपादन) परिनिर्वाहेण परमम्-औचित्यमुच्चै -कृतम्।

बीभत्स-शृङ्गारयो अङ्गाऽङ्गिभावो, यथा मम बौद्धावदानकल्पलतायाम्—

उ '[1]क्षीबस्येवा ऽचलस्य द्रुत-हृतहृदया जम्बुकी कण्ठ-सक्ता 44
रक्ता-ऽभिव्यक्तकामा कमपि नख-मुखोल्लेखमासूत्रयन्ती[2]।
आस्वाद्या-ऽस्वाद्य यून क्षणमधरदल दत्त-दन्तव्रणाङ्क
—लग्ना-[3]ऽनङ्गक्रियायाम् इयमतिरभसोत्कर्षमाविष्करोति॥'

दिल मे बाकी है) ?—अभी चित्त शान्त नही हुआ ।

१७–१८
रस-मिश्रण

किन्तु—रसो के (परस्पर-अविरोधी[1], अन्योन्यार्पित[2]) समिश्रण द्वारा काव्य मे अनुभूति की एक सर्वथा-नूतन पूर्त्ति-सी साधित करने के लिए, सचरित करने के लिए, कवि मे सदा विशेष कुशलता—एक अनुभवी रसोइये की-सी कुशलता—अपेक्षित होती है, वरना—जरा-सी[3] गलती सारा मजा किरकिरा कर देगी ।

शान्त और शृङ्गार का

43 'काचन आर कामिनी किस का चित्त नही हर लेते ? किन्तु जीवन है कि मतवारी-नजरिया की तरह चचल है ।' उ

—वात यह है कि हम कामिजनो को **शान्ति और मुक्ति** के उपदेश भा नही सकते सो, सो, भगवान् (व्यास) ने **शृङ्गार** का शूगरकोटिग[2] करके हमे **'जीवन की अनित्यता'** का वह कडवा घूट भी, [1]हमारी ही भलाई के लिए, पिला ही दिया !

बीभत्स और शृङ्गार का

44 'खून की प्यासी ने नोच-खसोट-खरोच युवक का दिल तो खीच ही निकाला है, और अब ? लो, गले से लिपट रही है, बार-बार होठो को, चूस नही, काटने लगी ! [1]पकड के ऊपर को खीच रही है, मानो, [2]नशे-मे-चूर बेचारा खुद तो अब उठेगा ही नही [3]वीयडे करके ही छोडेगी ।' उ

अत्र—श्लेष-उपमया (तुल्यकक्षाऽधिरूढयोरपि परस्परविरुद्धयोर् अर्थयोर्) बीभत्सशृङ्गार-अङ्गाऽङ्गिभाव-याजनाया जम्बुकी तरुण-शवस्य, क्षीबस्य-इव निश्चल-स्थिते, महसैव हृत-हृदयपद्मा (कृष्ट-चित्ता वा)[२], कण्ठे लग्ना, शोणिते भृशम् अभिव्यक्तस्पृहा ('रक्ता —अभिव्यक्त-कामा वा)[३], नखोल्लेखम् आसूत्रयन्ती, दत्त-दन्तव्रणम् अधरम् आस्वाद्य-आस्वाद्य अङ्गच्छेद-क्रियायाम् (अनङ्ग-भोग-क्रियाया वा) लग्ना, गात्राणाम् ऊर्ध्वगत कषण (रत-कौशल-उत्कर्ष वा) । प्रकाशय-नीति—समानयोर बीभत्स-शृङ्गारयो, [४]कामिनीपद-परित्यागेन केवल जम्बुक्या कर्तृत्वेन (च)—बीभत्सस्य-एव प्राधान्ये (शृङ्गारे अङ्गतामुपगते), वक्तुर् वीविमत्त्वस्य अन्तर्गत-गाढवैराग्य (वासना)-अविवासितचेतस (कुत्साऽर्ह-जुगुप्सया) (नितम्बिनी) रतिविडम्बनम् औचित्य-रुचिरताम्' आदधाति। यद्यपि अत्र-महावाक्ये शान्तस्यैव प्राधान्य, तथापि उदाहरण (श्लोक) वाक्ये बीभत्सस्य-एव ।

वीर-करुणयोर् यथा मम मुनिमतमीमांसायाम्—

उ 'गाण्डीवस्रुव-माजनप्रणयिन स्नातस्य वाष्पा-ऽम्बुभि, 45
चण्ड खाण्डव (पावक) ादपि पर शोकानल बिभ्रत ।
जिष्णोर् नृतनयौवनादयदिन-च्छिन्ना-ऽभिमन्योश् चिर
'हा वत्सेति बभूव सैन्धव-वधा-ऽरब्धा-ऽभिचारे' जप[२] ॥'

अत्र—त्रिगर्त-सङ्ग्रामगतस्य गाण्डीव-धन्वन, शत्रुभिर् नवयौवनोदयसमय-निहततनयस्य कार्मुक-स्रुवम् उन्मार्जयत, प्रसरद्-अश्रु-स्नातस्य, शोकाऽग्निम् उद्वहत, चिर 'हा पुत्रेति' जयद्रथवधाऽरब्ध-अभिचारे जपो बभूवेति—यद् उपन्यस्त तेन—अरि-क्षये [२]दीक्षासमुचित-व्रत-वर्णनया, शोकाऽग्नेश् चण्डत्वेन, [३]खाण्डवपद-उदीरणेन, वीररसस्य (अङ्गिन)—सहसैव [४]आगन्तुके करुणरसे प्रज्वलिते—सैन्धववधाऽरब्ध-अभिचाराऽभिधानेन, पर्यन्ते शौर्यनिर्वाहेण—परमम्-औचित्यम् उज्जृम्भते।

—श्लेष स्पष्ट है, और महसा यह निश्चित करना मुश्किल हो जाता है कि 'यह जवान छोकरे पर आसक्ति[2], आकर्षण[3] और कामुकता[3] के प्रहार हो रहे हे या मुरदे पर गीदडी मर-मिटी हे ?'[6] 'गीदडी' की कर्तृ-कारकता का, ओर'अङ्गना'पद के परिहार का, अलबत्ता, इङ्गित स्पष्ट हे कि यहा '**बीभत्स**' अङ्गी हे और '**शृङ्गार**' अग-भूत। और हा यह उक्ति साक्षात् बोधिसत्त्व की है जिन्हे कामिनी-व्यामोह[4] मे मनुष्य को विरक्त कराना ही इष्ट था, ओर, यहा, यह स्मरण दिलाना भी अनुपयुक्त न होगा कि, वहा प्रकरण मे, यह 'बीभत्स' भी स्वय '**शान्त**' का उपकारक ही बन कर प्रस्तुत हुआ हे।

वीर और करुण का

45 'उधर गाण्डीवी त्रिगर्तो से जुटे थे कि इधर अभिमन्यु का कत्ल हो गया। उ
किन्तु, नही 'वह खाण्डव मे भी भीषण शोकाग्नि,[4] वह विलाप, वे आसू—वीर-हृदय की 'सिन्धुराज-की-मृत्यु रूपी व्रत'[1] मे अग्नि-दीक्षा के लिए, मानो, एक 'उद्दीपक'[3] वरदान[2] बन गये!'

—यहा '**वीर**' को प्रदीप्त करने के लिए स्वय '**करुण**' आहुति बन गया है।

शान्त-शृङ्गार-करुण-बीभत्सानाम्, यथा मम तत्रैव—

उ 'तीक्ष्णाऽन्त-स्त्रीकटाक्ष-क्षतहृदयतया व्यक्त-समक्तरक्ता 46
क्रोधाऽदि(क्रूररोग)-व्रणगण-गणनाऽतीत-तीव्रव्यथाऽर्ता ।
स्नेह(क्लेदा)-ऽतिलग्नै कृमिभिरिव सुतै स्वाङ्ग-जैर् भक्ष्यमाणा
ससारक्लेश(शय्या)-निपतिततनव, पश्य, सीदन्ति मन्दा ॥'

अत्र—मुख्यस्य(अङ्गिन) शान्तरसस्यैव उद्दीपने कारणीभूता तीक्ष्णाऽन्त-स्त्रीकटाक्ष-क्षतहृदय-व्यथाऽर्त-स्नेहक्लेद-अतिलग्न-कृमितुल्य-तनयाऽदि-पदोपादानेन शृङ्गार-करुण-बीभत्सा शान्त-मुखप्रेक्षिण, सलीनतया(स्तिमित-वृत्तयो भृत्या इव) परमम्-औचित्य दर्शयन्ति ।

रससकरस्य अनौचित्यम् उद्भावयितुमाह :

शृङ्गार-शान्तयो, यथा अमरुकस्य—

प्र 'गन्तव्य यदि नाम निश्चितमहो गन्ताऽसि केय त्वरा, 47
द्वित्राण्येव पदानि तिष्ठतु भवान् पश्यामि यावद् मुखम् ।
ससारे (घटिका-प्रणाल)विगलद्-वारा[1] समे जीविते
को जानाति पुनस् त्वया सह मम स्याद् वा न वा सगम ॥'

अत्र—प्रकरणवर्तिन शृङ्गाररसस्य ('पश्यामि यावन्मुखम्' इति उत्कण्ठा-समुज्जृम्भमाणस्य) स्वभाव-विरोधिनि शान्ते अङ्गभावम्-उपनीते—विस्तीर्णतर-अनित्यता-वर्णनया वैराग्येण रतेर्-न्यग्भावम् आपादयन्त्या, प्रधानरस-सबन्धेन, अधिकम्-अनौचित्यम् उत्साहितम् । नि सारससार-अचारुता-श्रवणेन हि कठिनक्रिया-क्रूरचेतसामपि उत्साहसभङ्गाद् अङ्गानि अलसीभवन्ति, किमुत कुसुमसुकुमार-शृङ्गाररस-कोमलमनसा विलासवताम् । प्रान्ते च, शान्तपरिपोष-निर्वाहिण रागवैरस्यमेव पर्यवस्यति । तद् उक्तमानन्दवर्धनेन—

प्रमा 2] 'विरोधी वाऽविरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।
परिपोष न नेतव्य तेन स्याद् अविरोधिता ॥'

शान्त, शृङ्गार, करुण और बीभत्स का

46 'देख रहे हो इन अभागो को ?—कामिनी के कटाक्षो से क्षत-हृदय, लेकिन फिर भी आसक्त ! क्रोधादि अनगिनत बीमारियो और ज़ख्मो मे कराहते , अपनी ही प्यारी औलाद इन्हे ऐसे खा जायगी जैसे सडते जिस्म को उसी के खुद-के-पैदा-किये कीडे !' उ

—दुनिया की इस **कामुकता** को, **करुणाविलता** को, **बीभत्सता** को देखकर हृदय मे सहसा **वैराग्य** ही उत्पन्न हो आता है।

शृङ्गार और शान्त का विरोध

47 'जब जाना ज़रूरी ही है, तो चले जाना। जल्दी कौन-सी है ? दो-टुक रुक भी जाओ ज़रा आख भर कर यह चितवन देख तो लू ! ¹ रिसते पानी की तरह अस्थिर इस जीवन मे, कौन कह सकता है, फिर मेल हो न-हो ?' प्र

दर्शन की 'प्यासी अखिया' है कि अघाती ही नही। और छेड दिया उपदेश जीवन की असारता का जिसे सुन कर घोर-तपस्वी भी पस्त पड जाय (साधारण दुनियादारो की छोडो), निष्कर्ष निकला वैराग्य और शान्ति ही यहा एक मात्र उपादेय मार्ग है। यदि सचमुच विरसता इष्ट न हो तो, जैसे कि आनन्दवर्धन ने कहा भी है

परस्पर-विरोधिता से बचने का एक ही उपाय है— [प्रमा 2

'एक रस को दूसरे रस मे परिणत, जहा तक बन सके, न होने दो।'

नदेवा ऽत्र वैपरीत्येन-उपलभ्यते। परिपोष-विपरीते, स्वभावविरोधिनि-अपि, प्रधान-अनुपरोध एव। [न-तु] यथा राजशेखरस्य—

उ 'माण मुचध, देह वल्लह-जणे दिट्ठि तरंगुत्तर 48
तारुण्ण दिअहाइ पच दह वा (पीण) त्थण-त्थभण।
इत्थ कोइलि-मजुसिजिण-मिमाद् देवस्स पचेसुणो
दिण्णा चित्त-महूसवेण सहसा आणव्व सव्वकसा॥'

अत्र, 'मान मुञ्चत, दत्त वल्लभजने दृष्टि तरङ्गिता, तारुण्य दिनानि पञ्च दश वा पीनस्तन-स्तम्भनम्—इत्थ, कोकिल-मधुरध्वनि-व्याजेन, देवस्य पञ्चेषोग् चैत्र-महोत्सवेन आज्ञा-इव (सर्वकषा) दत्ता' इति वाक्ये—मुख्य शृङ्गाररस (प्रारम्भ-पर्यन्त) व्याप्तिशाली—'कतिपयदिवसस्थायि योवनमिति'—अनित्यतारूप-शान्त-रसबिन्दुना, [1]मध्यत्रुडितेनेव, विरसता न नीत। विरुद्धस्य परिपोषाऽभावात्। विरुद्धवर्णन- उदितेन हि अनौचित्येन स्थायी (कुञ्जर इव श्वभ्र-पतित) पुनरुत्थातु न-उत्सहते—इति, अल विस्तरेण। अनया दिशा रस-सकरे भेद-प्रपञ्चौचित्य विपश्चिद्भि स्वय विचार्यम्।

१९

रसौचित्यविचारानन्तरम्, उद्देशाऽनुसारक्रमेण, क्रमोपगत क्रियापदौचित्य दर्शयितुमाह—

सगुणत्व सुवृत्तत्व साधुता च विराजते।
काव्यस्य सुजनस्येव यद्यौचित्यवती क्रिया॥

काव्यस्य माधुर्याऽदि-गुणवत्ता वसन्ततिलकाऽदि-सुवृत्तता परिपूर्णलक्षण-साधुता च विराजते, यदि औचित्य-युक्त क्रियापद भवति। सुजनस्येवेति—तत्-तुल्यत्व—स्पष्टार्थमेव। क्रियापदौचित्य यथा मम नीतिलतायाम्—

—शृङ्गार और वराग्य परस्पर-विरोधी है।

48 'छोडो भी पुराने हठ को, एक नजर ही सही, प्यार की, इधर छोड दो, उ ओर बस। दस दिन बाद यह जवानी, मेरी मानो भी, ढिल्क जायगी (तब पछना कर क्या हासिल होगा ?)।'

—कोयल के मधुर राग के मिस से, जैसे, स्वय कामदेव के अनुल्लघ्य शासन को ही बसन्त ने कह डाला।

शुरू से आखीर तक '**शृङ्गार**' का उद्भावन ही इष्ट था, बीच मे, 'यौवन की अनित्यता' का बुलबुला उठा और वही फुस हो गया।[१] (अन्यथा—विरोधी रस को असमय उठा-देने से स्थायिभाव का अक्सर वही हाल हुआ करता है जो एक बार खड्ड मे गिर-पडे हाथी का वह **फिर अपने पैरो पर खडा नही हो सकता।**)

१९

क्रिया

वाक्य का सच्चा सिगार होती है क्रिया—वर्णो की मधुरता नहीं, छन्दो की सगीतमयता नही, जैसे कि—मनुष्य का सच्चा सिगार भी क्रियाशीलता ही होती है अन्दरूनी खूबिया नही, बाहरी खूबसूरती नहीं।

उ 'य प्रख्यात-जव मदा स्थिति-विवो सप्ताऽब्धि-सध्याऽर्चने, 49
दोदर्पेण निनाय दुन्दुभिवपुर् य काल-ककालताम्,
य पाताल्मसृङ्मय प्रविदधे निष्पिष्य मायाविन,
सुग्रीवाऽऽग्र्यविभूति-लुण्ठनपटुर्——वाली स कि स्मर्यते ॥'

अत्र——सप्ताऽब्धि-सन्ध्याऽर्चन-प्रख्यातजवो महिषरूप-दुन्दुभिदानव-उन्माथी, मायाविदानवनिष्पेप-उद्भूतशोणित-पूरितपातालतल कि स वाली स्मर्यते ?—— इति क्रियापदेन शुक-सारणाभ्या रावणस्य दुर्नया-ऽभिनिवेशिन, तद् विरामाय हितोपदेशेन, 'भवान वमनकोण-नियमिततनु कक्षाया नि क्षिप्त इति' उचित युक्ति-युक्तम् उक्त भवति। न-तु यथा श्रीप्रवरसेनस्य——

प्र 'मग्ग अ-पारिजाअ कोत्थुह-लच्छी-रहिअ महु-महस्स उर । 50
सुमिरामि महण-पुरओ अमुद्ध-अन्द हर-अडा-पब्भार ॥'

अत्र——जाम्बुवता-अधीयमाने 'स्वर्गम् अपारिजात कौस्तुभ-लक्ष्मीभ्या विरहित मधु-मथनस्य उर स्मरामि अमृतमथन-पुरतोऽपि अ-बालचन्द्र हर-जटा-प्राग्भार[च]' इति प्रगुणगुणा-ऽऽख्यानप्रसङ्गे क्रियापदेन जरा-जर्जरशरीरत्वमात्रमेव, न-तु पौरुषोत्कर्ष-विशेषा-ऽतिशय कश्चिद् उचित ससूचित ।

२०

कारकौचित्य दर्शयितुमाह——

सान्वय शोभते वाक्यम् उचितैरेव कारकै ।
कुलाभरणमैश्वर्यम् औदार्यचरितैरिव ॥

उचितैरेव कारकै -सद्,अन्वय-वद्, वाक्य——सद्वशभूषितम्-ऐश्वर्य सच्चरितैरिव विराजते।

49 'जो जीवन-भर (? सातो-समुद्रो के) सन्ध्या-वन्दन मे कभी नही चूका, उ
जिसने दुन्दुभि (की राक्षमता) का, मार-मार कर, कचूमर निकाल डाला था, और जिसने मायावी को ऐसा लताडा था कि सारा पाताल ही उसके खून मे भर गया था '—शुक ओर सारण रावण से पूछ रहे है 'क्या उसी बाली की जनाब को **याद सता रही** है, आज ?'

—उन्हे इष्ट था रावण को उसकी हठीली प्रकृति से छुडाना' क्योकि 'कभी खुद रावण के साथ भी बाली ने, उसे बगल मे कस कर, और फिर पल्लू मे बाध, फेक ' खिलवाड की थी !

50 'मुझे तो **वह ज़माना** भी याद है जब स्वर्ग मे अभी पारिजात के फूल प्र
नही खिलते थे, कौस्तुभ और लक्ष्मी विष्णु के गले का हार अभी नही बने थे, अभी बाल-चन्द्र शिव का शेखर नही बना था '

—बूढा जाम्बवान् अमृतमन्थन के समय से बराबर घिसटता ही चला आ रहा है, **मरता नहीं**। अच्छा होता यदि यह अमर-स्मृति उसकी किसी विस्मृत गुण-गरिमा को उसकी प्रत्युज्ज्वल कर देती ।

२०

कारक

और तब हो कारको की परस्पर सगति · जैसे—
खानदान को रौशन रखने को कारहाए-
नुमाया का एक मुतवातिर सिलसिला हो !

कर्तृपदौचित्यम् यथा भट्टबाणस्य––

उ 'स्तनयुगमश्रुस्नात समीपतर-वर्ति हृदय-शोकाग्ने । 51
चरति विमुक्ता(ऽ)हार व्रतमिव भवतो रिपु-स्त्रीणाम् ॥'

अत्र—शत्रुस्त्रियो व्रत चरन्तीति वक्तव्ये स्तनयुग वाष्पसलिल-स्नात, शोकाग्नि-समीप-वर्ति, विमुक्त-भोजन, विगत-मुक्ताहार च सद्-व्रत चरतीत्युक्ते—कर्तृपदम् औचित्यम्-उपचित जनयति । न-तु यथा परिमलस्य—

प्र 'आहार न करोति, ना ऽम्बु पिबति, स्त्रैण न ससेवते, 52
शेते यत् सिकतासु मुक्त-विषयश्, चण्डाऽतप सेवते ।
त्वत्-पादाऽब्जरज -प्रसादकणिका-शोभोन्मुखम् तद् मरौ
—मन्ये, मालवसिह, गुर्जरपतिस् तीव्र तपस् तप्यते ॥'

अत्र—गुर्जरपतिर् विद्रुतो मरु-गहन प्रविष्ट, परित्यक्त-आहाराऽदि-समस्तविषय, चण्डाऽतप-उपसेवी तपश्चरतीति यदुक्त, तत्—कर्तृपदस्य विशेषाऽभिप्रायोचित न-किंचिद् उपलक्ष्यते । शत्रुत्रास-तरलतया मरु-कान्ताराऽन्तर-अवसन्न, सकलविषय-सुखभोग-परिभ्रष्ट, किम्-अन्यत् कुरुताम् ? स्तनयुगवत्, कर्तृपदस्य चमत्कारोचित न-किंचिद् अभिहितम् ।

कर्मपदौचित्यम् यथा मम लावण्यवत्याम्—

उ 'सदा सक्त शैत्य विमल-जलधारा-परिचित 53
घनोत्लास क्ष्माभृत्-पृथुकटक-पाती वहति य ।
विधत्ते शौर्यश्री-श्रवण-नवनीलोत्पलरुचि
स चित्र शत्रूणा ज्वलदनलताप भवदसि ॥

अत्र निश्चलम् अमल-जलधारागत शैत्य—तैक्ष्ण्य शीतलत्व च, घनोल्लासो—निबिडोत्साह पर्जन्योदयश्च, क्ष्मा-भृता सानु-सैन्य-निपाती (वहति य)–स शौर्यश्री-श्रवण-नवनीलोत्पल-तुल्य त्वत्खड्ग:, चित्र, शत्रूणा सताप करोतीति यदुक्त, तत्—

कर्त्ता

51 'देव, रिपु की विधवाओ के 'अश्रुस्नात, शोकाग्नि म तपते, मुक्ता (ऽ) हार-हीन' ये उरोज सचमुच, जैसे निरन्तर व्रत-चर्या मे रत है !' उ

—क्योकि **व्रत** के लिए अपेक्षित साधन भी तो ये तीन ही होते है स्नान, अग्नि, और उपवास (आहार-त्याग)।

52 किन्तु भय के मारे गुर्जरपति के 'जगल मे जा छुपने ओर भूखे-मरने' का 'मालवराज की चरण-रज-प्रेप्सा से, मानो', घोर तप है प्र

—'तपस्या' की भावना के साथ मजाक करना है, क्योकि **और चारा ही क्या था** वेचारे के लिए ? ओर तो ओर--यहा तप कोई 'उरोज' भी तो नही कर रहे।

कर्म

53 'यह आपकी राजाओ के दस्ते-के-दस्ते साफ कर देने वाली आबदार **तलवार** ओर ये पहाडो की तलहटियों मे मडराते निर्मल जल से भरे **बादल**—दोनो ही लक्ष्मी के कर्णोत्पल-से उज्ज्वल उ

पहाडो और तख्तो को पलटा देने वाले !

कर्मभूतस्य तापस्य शिशिर(तर-सामग्री) जन्मन पर-वैचित्र्य रुचिरम्-ओचित्यम् आसूत्रितम् । न-नु, यथा ममैव अवसरसारे—

प्र 'भग्नाऽहित-श्वसितवात-विबोध्यमान 54
काष्ठा(ऽ)श्रयेण महसैव विवृद्धिमाप्त ।
ताप तनोति निहता-ऽरिविलासिनीना
वह्निद्युतिर् भुवन-नाथ भवत् प्रताप ॥'

अत्र—विद्रुताऽराति-नि श्वसिताऽनिल-प्रबोध्यमान, काष्ठा(ऽ)श्रयेण-दिक्चक्र-पूरणेन प्रोढता प्राप्त, पावक-तुल्यस् त्वत्-प्रताप शत्रु-कान्ताना तापमात्र तनातीति, तत्—समुचितम्—आश्चर्य न-किचित् ।

करणौचित्यम् यथा गोडकुम्भकारस्य—

उ 'लाङ्गूलेन गभस्तिमान् वलयित, प्रोत शशी मोलिना, 55
व्यावूता जलदा सटाभि', रुडवो दष्ट्राभि' रुत्तम्भिता,
प्रोत्तीर्णा जलधिर् दृशैव हरिणा, स्वै' रट्टहासोर्मिभिर्
—लङ्केशस्य च लङ्घितो दिशि-दिशि प्राज्य प्रतापा-ऽनल ॥'

अत्र—हरिणा (हनुमता) जलनिधि-तरणे तरिणिर् लाङ्गूलेन वलयित, किरीट-प्रान्तेन शशी प्रोत, सटाभिर् मेघा व्याधूता, तारा दष्ट्राभिर् आयासिता, अब्धिर् दृष्ट्या-एव तीर्णो, अट्टहास-तरङ्गैर् लङ्केशस्य विस्तीर्ण प्रतापाऽग्नि-शमित इति—बहुभि करणपदैर् उत्साहाऽधिवासितैर् विस्मयशिखर-आरोहण-सोपानैरिव—रघुपतिप्रभावाऽरम्भ-विजयध्वजायमानस्य पवनसूनोर् औचित्या-ऽतिशय प्रकाशित । न-तु, यथा भट्टबाणस्य—

प्र 'जयत्युपेन्द्र—स चकार दूरतो बिभित्सया य क्षणलब्ध-लक्षया । 56
दृशैव कोपा-ऽरुणया रिपोरुर स्वय भयाद्-भिन्न मिवाऽस्र-पाटलम् ॥'

—किन्तु, क्या शीतलता हमेशा **आग** ही बरसाया करती है ?

54 किन्तु—'आपका प्रताप दिग्दिन्तव्यापी होकर (भाग-खडे) शत्रु की ''विधवाओं'' को **ताप** दे रहा है' **प्र**

—इस उक्ति मे भले ही प्रभु की प्रभुता को शत्रुओ की आहो से, और और 'काष्ठ(ा)' पद के श्लेष द्वारा, उद्दीप्त किया गया है, **हृदय**-ताप उससे कुछ भी **चमत्कृत नहीं** हो जाता ।

करण

55 '**पूँछ** मे सूरज को धर दबा कर, समुद्र को एक **दृष्टिपात** से ही तर कर, हनुमान् ने **अट्टहास की तरगो से** ही, मानो, रावण के दिगन्तव्यापी प्रताप को ठडा कर दिया !' **उ**

—आश्चर्यो की यह सोपान-परम्परा किस शिखर मे अवसित होगी ? अभी तो रघुपति के अद्भुत प्रभाव का **पूर्वाभास** ही प्रत्यक्ष हो रहा है ।

56 किन्तु—'नृसिह की गुस्से से लाल **एक आख** के निशाने पर टिकते ही हिरण्यकशिपु की छाती, 'मानो, स्वय (**डर के मारे**) फट गई !' **प्र**

अत्र––भगवनो नृसिहस्य कोप-रक्तया दृष्ट्यैव क्षणलब्ध-लक्षया हिरण्यकशिपोर् वक्ष स्वय भयाद्-भिन्नमिवेति यदुक्त, तत्––महोत्साहपराक्रमस्य प्रतिनायकस्य रिपो प्रधाननायक-प्रतापोद्दीपन-उपकरणीभूत-अविकवैर्यस्य स्वय भय-विह्वलतया हृदयस्फुटनम्, इति––उपचितम्-अनौचित्य 'दृशैव'-करणपदस्य शिरसि विश्रान्तम्।

सम्प्रदानौचित्यम् यथा भट्टप्रभाकरस्य––

उ 'दिङ्मातङ्गघटा-विभक्तचतुराऽऽघाटा मही साध्यते, 57

सिद्धा साऽपि वदन्तऽ-एव हि वय रोमाञ्चिता ––पश्यत !

विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरम् ?––रामाय तस्मै नमो

यस्मादाविरभूत् कथाऽद्भुतमिद यत्रैव चाऽस्त गतम्॥'

अत्र––दिग्गज-चतुरस्रा भू साध्यते, सा च सिद्धा (हेलया) अन्नमुष्टिरिव एकस्मै विप्रमात्राय[1] प्रतिपाद्यत, इति–निरतिशय-औदार्य-आश्चर्यचमत्काररुचिर-औचित्य-चर्वणया वय रोमाञ्चिता ––पश्यत (रोमाञ्चस्य प्रत्यक्ष-परिदृश्यमानत्वात्) ! किमपरम् ? अपूर्व-त्यागिने भार्गवाय तस्मै नम इति––'विप्रायेति'-सम्प्रदानपद-गत एव उत्कर्षविशेष प्रकाशते। न-नु, यथा राजशेखरस्य––

प्र 'पौलस्त्य प्रणयेन याचत––इति श्रुत्वा मनो मोदते, 58

देयो नैव हरप्रसाद-परशु, तेना ऽधिक ताम्यति ।

तद्––वाच्य स दशाऽऽननो (मम गिरा) 'दत्ता द्विजेभ्यो[1] मही,

तुभ्य ब्रूहि रसातल-त्रिदिवयोर् निर्जित्य कि दीयताम्॥'

अत्र, रावणदूतेन परशु याचितो भार्गवो ब्रूते––'नैष हरप्रसाद-लब्ध परशुर्-दानयोग्य । तत् (तस्माद्) अस्मद्-वचसा स दशग्रीवो वाच्य 'पृथ्वी मया कश्यपाय[1] प्रतिपादिता। तुभ्य पाताल-त्रिदिवयोर्मध्यात् कि निर्जित्य दीयताम्?' इति–– अनुचित मुनेर्, लोकहित-प्रवृत्तस्य, त्रैलोक्य-कण्टकभूताय राक्षसाय भुवन-प्रतिपादनम् ।

—क्या भगवान् के लोकोत्तर प्रभाव को प्रतिनायक के अतुल उत्साह-पराक्रम द्वारा उद्दीप्त करना अधिक उपयुक्त न होता ?

सम्प्रदान

57 'कल तक जो पृथ्वी चार दिग्गजो मे बटी हुई थी, वह भी, लो, आज काबू उ
मे लाई जा रही है , लो—वह काबू मे आ भी गई ! और फिर—वश मे आते ही वह एक **अकिंचन[1] को** (कश्यप को) दान मे भी दे दी गई, और उस त्यागमूर्त्ति ने वह अगले ही क्षण, ब्राह्मणो को दे दी !

—यह है परशुराम की महिमा ! **प्रत्यक्ष**, सचमुच, कितना रोमाञ्चकारी होता है !

58 लेकिन रावण के दूत को उसी लोक-मगलकारी सन्त ने उत्तर मे यह कहते हुए कि 'सचमुच, रावण की विनयी याचना पर हम बहुत खुश है आज, पर यह कुल्हाडा हमारा हमे भोलानाथ ने प्रसादरूप मे दिया था, और धरती मैं पहले ही ब्राह्मणो[1] को दे चुका हू ? जाओ, पूछ कर आओ अब पाताल या स्वर्ग—क्या, जीत कर —तुम्हे दान मे दे सकता हू ।

—(परशुराम ने) जरा न-सोचा यह त्रिलोकी का कण्टक इतनी बडी उदारता का **पात्र है** भी ?

अपादानौचित्यम् यथा मालवरुद्रस्य—

उ 'एनस्माद् जलधेर् मिताऽम्बुकणिका काश्चिद् गृहीत्वा, तत 59
पाथोदा परिपूरयन्ति जगती(रुद्धाऽम्बरा)वारिभि ,
भ्राम्यन्-मन्दरकूटकोटि-घटनाभीति-भ्रमत्-तारका
प्राप्यैका जलमानुषी त्रिभुवने श्री-मान् अभूदच्युत ॥'

अत्र—यदुक्तम् 'एतस्माद् महोदधे परिमिता-ऽम्बुकणिका प्राप्य जलदा जगत् पूरयन्ति', तथा 'भ्रमन्-मन्दरकूटकोटि सघट्ट-त्रास-तरलतारकाम् एका जल-मानुषी(श्रिय)प्राप्य श्री-मान् अच्युतो ऽभृदिति'—तेन सागरगत-निरतिशयोत्कर्ष-विशेष प्रदर्शित । 'एतस्माद् जलधेरिति'—एतत्पदम् औचित्यस्य मूलभूमि । न-तु, यथा भट्टेन्दुराजस्य—

अ 'आदाय वारि परित सरिता मुखेभ्य 60
कि नाम साधितमनेन महार्णऽवेन ।
क्षारीकृत च वडवा-दहने हुत च
पातालमूल-कुहरे विनिवेशित च ॥'

अत्र—महाऽर्णव-व्यपदेशेन, अन्योपार्जित-द्रविण-दुर्व्ययकारिण सत्सविभाग-विमुखस्य कस्यचिद् उच्यते। सरिता मुखेभ्य समन्तात् तोयमादाय अपात्रेभ्य प्रतिपादित—दूषितम्। यत्-तु अत्र सरिद्भ्य समादायेति वक्तव्ये—'सरिद्-मुखेभ्य इति' यदुक्तम्, मुख-शब्दस्य नैरर्थक्याद् अत्र अनौचित्यमेव पर्यवस्यति ।

अधिकरणौचित्यम् यथा कुन्तेश्वरदौत्ये कालिदासस्य—

उ 'इह निवसति मेरु शेखर क्ष्माधराणास् 61
इह विनिहितभारा सागरा सप्त चाऽन्ये ।
इदमहिपतिभोग-स्तम्भविभ्राज्यमान
धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम् ॥'

अपादान

59 '**जिससे** कुछ बूदे उपहार मे लेकर ही मेघ धरती को धाराओ से भर देते है, और **जहा से**—मन्दराचल के थपेडो की आशका से भीत (निर्दिक्) एक तिरती-फिरती परी अकस्मात् हाथ-लगते ही विष्णु के जीवन मे कुछ स्थिरता आ गई थी' , उ

—उसी अपार-महिमा का धनी है यह समुद्र !

60 'नदियो के **मुखसे** उनकी कमाई(उनकी) जलराशि को, एक हाथ ले, समुद्र ने भला, (उसे खारी कर के!) वडवानल और रसातल जैसे **अनुचित पात्रो को**, दूसरे हाथ दे, क्या हासिल कर लिया ?' प्र

—पराये धन का सदुपयोग और सद्-वितरण बडा ही दुर्लभ है। 'मुख'—योजना भी, यहा निरर्थक है।

अधिकरण

61 चन्द्रगुप्त के निजी-दूत की हैसियत से आये कालिदास का सत्कार जब कुन्तलेश्वर ने उचित **आसन** आदि देकर नही किया, तब भी कवि की धीरता और प्रतिभा कुण्ठित नही हो गई थी — उ

'जो सप्ताचलो का, सुमेरु का, सातो रत्नाकरो का एक-एव

अत्र––महाराजदूतोऽपि, सामन्त-स्थान स्वप्रभुसमुचित-गोरवपूजाऽर्हम् आसनम् अनामाद्य, कार्यवशेन भूमावेव-उपविष्ट, प्रागल्भ्य-गाम्भीर्यण एव ब्रूते यथा–– अस्मद्विधाना वसुधातल एव (भुजगपतिभोग-स्तम्भप्राग्भार-निष्कम्पे वरा-ऽसने) स्थान युक्तम्, यस्माद्––इहैव मेरु अचल-चक्रवर्ती समुपविष्ट, सप्त महाऽब्धयश्च। तत्-तुल्यता-एव अस्माकम्, इति ओचित्यम् अधिकरणपद-सबद्धमेव। न-तु, यथा परिमलस्य––

प्र 'तत्र स्थित स्थितिमना-वर, देव, दैवाद् 62
भृत्येन ते चकितचित्तमियन्त्यहानि।
उत्कम्पिनि स्तनतटे हरिणेक्षणाना
हारान प्रवर्तयति यत्र भवत्-प्रताप ॥'

अत्र––त्वद्भृत्येन (मया) तत्र (तस्मिन् देशे) स्थित यत्र भवत्-प्रताप कम्पतरल-स्तनतटे हरिण-दृशा हारान् प्रवर्तयतीति यदुक्त, तेन––(शौर्यश्रृङ्गार-गुणोत्कर्ष-स्तुतौ) सर्वतोदिग्गमन-अविच्छिन्नप्रसर प्रताप पारिमित्य प्राप्त। 'एकत्र परिच्छिन्ने देशे मया तत्र स्थित यत्र त्वत्-प्रताप तरुणी-स्तनतटेषु हार-तरलन करोति'––(अन्यदेशे) विलक्षणमुपलक्षणम्। सर्वगतश् चेत् प्रताप, तत्–– सर्वत्रैव मया स्थितमिति वक्तव्ये, तत्रेति एकदेशाऽभिधायि पद नोपपद्यते। दस्युमात्रस्याऽपि एकदेशे जृम्भमाण-प्रतापत्वात्। तद्, अत्र––अधिकरणपदगतम् अनोचित्यमुपलभ्यते। तत्र-तत्र मया स्थित यत्र-यत्र भवत्प्रताप इत्येव स्तुत्युचित––युक्तम्-उक्त स्यात्।

२१

लिङ्गौचित्य दर्शयितुमाह––

उचितेनैव लिङ्गेन काव्यमायाति भव्यताम्।
साम्राज्यसूचकेनेव शरीर शुभलक्षणा॥

आधार है—और जो 'भुजगो के पति' (भू-पतियो) की भी (आ) भोग-वृत्ति का परिशमन-स्थान है '

—'हम जैसो की उचित **आदर-भूमि** भी तो वही (पृथ्वी) ही हो सकती है ।

62 'मालिक' आपका यह खादिम उस मुल्क मे जिन्दगी की कुछ रोनक बसर करके आ रहा है जहा , शाहशाह, आपके राब-दाब के खोफ से उन हिरनी-सी-आखो वालियो की छातिया धडकने लगती है, छातियो पर उनकी (वो हारो-से) साप लोटने लगते है ।' प्र

—प्रताप और उरोज-हार क्या अनूठा मिश्रण हुआ हे (वीर और शृङ्गार का) ! किन्तु—प्रताप की 'दिशान्तो को भेद' आगे बढन की प्रवृत्ति, अचेते मे शायद, ('सर्वव्यापक' न रह कर) विश्व के **'एकदेश'** तक ही सीमित हो गई है ! अपने-देश मे तो उचक्के-डकैत भी राजा होते है । 'देश-देशान्तर रह कर आया ह'—कहना चाहिए था ।

२१

लिङ्ग

लिगानुशासन ऐसा होना चाहिए जैसे—वाक्य-रूपी शरीर के शुभलक्षण प्रकट हो आये हो !

प्रस्तुतार्थोचितेन लिङ्गेन काव्य भव्यतामुपयाति, राज-लक्षणेनेव शरीरम् । यथा, मम, ललितरत्नमालायाम्—

उ 'निद्रा न स्पृशति, त्यजत्यपि वृति, धत्ते स्थिति न क्वचिद्, 63
दीर्घा वेत्ति कथा व्यथा, न भजते सर्वात्मना निर्वृतिम् ।
तेना ऽराधयता [गुणस् तव !] जप-ध्यानेन (रत्नावली)
नि -सङ्गेन परा ऽङ्गना-परिगत नामाऽपि नो सह्यते ॥'

अत्र—वत्सेश्वरस्य रत्नावलीविरह-विधुरचेतस स्मराऽवस्था-समुचित विदूषकेण सुसगताय यद् अभिहितम् 'निद्रा न स्पृशति, धृति त्यजति, स्थिति न धत्ते, दीर्घा कथा व्यथामिव वेत्ति, निर्वृति न भजते, ता-विना, तेन—तद्गुण-जापिना, तद्ध्यान-नित्येन, (जन) सङ्ग-त्यागिना, अन्यासाम् अङ्गनाना नाममात्रमपि न सह्यते' स्थिति-धृति-कथा-निर्वृतीना स्त्रीलिङ्गा-ऽभिधानेन (अङ्ग[ना]त्व-अध्यारोपेण) परम्-औचित्य प्रतिपादितम् । न-तु यथा, मम, नीतिलतायाम्—

प्र 'वरुणरण-समर्था, स्वर्ग-भङ्गै कृतार्था, 64
यमनियमन-शक्ता, मारुतोन्माथ-सक्ता,
धनदनिधन-सज्जा—लज्जते मर्त्ययुद्धे
(दहनदलन-चण्डा) मण्डली मद्-भुजानाम् ॥'

अत्र—रावण कपिनिकार-अमर्ष (विषमविकार) विप्कारोचित ब्रूते 'वरुणादि-लोकपाल-विशालबलाऽवलेप (विप्लव) कारिणी प्रचण्डा मद्-भुजमण्डली' मर्त्यमात्र-युद्धे लज्जते—इति स्त्रीलिङ्गेन निर्देश, त्रैलोक्यविजय-ऊर्जितस्य प्रतापस्य कठोरताम् अपहरन्, अनौचित्य सूचयति ।

२२

वचनौचित्य दर्शयितुमाह—

उचितैरेव वचनै काव्यमायाति चारुताम् ।
अदैन्य-धन्यमनसा वदन विदुषामिव ॥

63 'रत्नावली के विरह मे उदयन को—नीद, दिल की ढारस, मन की शान्ति, कहानी, चैन—(**'परायी औरत'**)का ज़िक्र तक बरदाश्त से बाहर हो गया है ' उ

—फकत इन पदो के स्त्रीलिगी होने (की वजह) से !

64 किन्तु, हनुमान् द्वारा अपमानित होकर रावण का यह कहना कि "दहन और दलन मे चण्डी" जिस मेरी भुज-मण्डली को स्वर्ग तक तहस-नहस करने का फख्र हासिल है और जो यम और वरुण (ओर कुबेर) की भी बोलती बन्द कर दे, वह आज एक हवाई-पुरजे से और एक अदने-से इन्सान से लडेगी ?—वह तो ऐसे ख्याल से ही शरमिन्दा है' ! प्र

—(यह उक्ति) **वीर-कोप** के उचित हो तो हो, त्रैलोक्यजयी **दोर्दण्ड-मण्डल** को स्त्रीलिग दे देना पु ंषोचित गोरव-बुद्धि को—परास्त कर देता है—'लज्जित' कर देता है।

२२

वचन

वचन ऐसे—कि सुनने वाले के भी चेहरे से शिकन जाती रहे।

उचितैर् एकवचन-द्विवचन-बहुवचनै काव्य चारुतामायाति—अदैन्य-उदार-चेतसा विदुषामिव वदनम् अयाच्ञारुचिर-औचित्यचारुभिर् वचोभि[रिव] [1] यथा, मम, नीतिलतायाम्—

उ 'त्रैलोक्याऽक्रमणैर्, वराहविजयैर्, नि सख्य-रत्नाऽप्तिभि , 65
प्रख्यात —स्वरस-स्वयवरशतर् युद्धाऽब्धि-मध्ये श्रिय ,
साऽश्चर्यैर् बलिबन्धनैश्च बहुभिर्—नित्य हसत्युत्थित
पोलस्त्य (सकृदुद्यमश्रम-वशाद् व्यासक्त-निद्र हरिम्) ॥'

अत्र—शुकसारणाभ्या, रघुपतेरग्रे दशग्रीव-पराक्रमे अभिधीयमाने, यदुक्तम् : 'पौलत्स्य शेष-शायिन हरिम् (एकवार-उद्योगश्रम-वशेन ससक्त-आलस्यनिद्रम्) त्रलोक्याऽक्रमणैर्, वराह-विजयिना सुभटाना जयैर्, अनेकरत्नप्राप्तिभि , (समर)-समुद्र-मध्ये बहुवार-हृते (श्रिय)स्वयवर-शतैर्, बलिना च लोकपालाना बन्धनै —प्रख्यात —सदा-उत्थित , सोत्साह , सतत-हसतीति' बहुवचनैरेव हरि-वैलक्षण्य-लक्षणम् उपचितम्-औचित्यम् उदञ्चितम् । न-तु यथा, मातृगुप्तस्य—

प्र 'ना ऽत्र—निशामुख-सरोरुह-राजहस 66
कीरी-कपोलतल-कान्ततनु शशाङ्क ।
आभाति, नाथ, तदिद दिवि दुग्धसिन्धु-
डिण्डीरपिण्ड-परिपाण्डु यशस् त्वदीयम् ॥'

अत्र—'ना ऽय शशी, त्वदीयम् इन्दु-दुग्धाऽब्धि (फेनपिण्ड)-पाण्डुर यश इति' यदभिहित, तत् 'अविच्छिन्न-प्रसराणा यशसा (बहुवचनेन वर्णनाया समुचितायाम्) एकवचनोपन्यास , चन्द्रबिम्बा-ऽकारेण पिण्डमात्र-परिच्छिन्नतया, सकोचरूपम् अनौचित्यम् उद्भावयति ।

65 शुक और सारण राम के समुख रावण के गीत गा रहे है कि किस प्रकार　उ
वह **कितनी-ही-बार** त्रिलोकी-दमन, वराह-विजय, अमित मनद्-मचय, लोकपाल-बन्धन . . करके भी, युद्ध के दोरान मे हा लक्ष्मी द्वारा चाव मे (कितनी-ही-बार) स्वयवृत होकर भी—हर-वक्त तराताजा, खिलखिलाता, नजर आता है (जब कि इतने कारनामो मे से एक भी, और एक ही बार, स्वय भगवान् (विष्णु) को 'चूर कर देने के लिए काफी है)' ।

—**इतने कारनामे**, ओर इतनी बार ।

66 'यह—काश्मीरी-गोरियो के गालो-सा गोल-गोल सन्ध्या-सरसी मे　प्र
मुक्त-विहरण करने वाला राजहस नही, चन्द्रमा नही, क्षीर-सागर के फेन पुज-सा धवल आपका **यश** है ।'

—कीर्ति-प्रसरो की अबाध वृत्ति को, **एकवचन** देकर, नन्हे-से चन्द्र-खिलौने तक सीमित कर दिया ।

२३

विशेषणौचित्य दर्शयितुमाह—

विशेषणै. समुचितैर् विशेष्योऽर्थ प्रकाशते।
गुणाधिकैर् गुणोदार सुहृद्भिरिव सज्जन ॥

काव्ये विशेष्योऽर्थ समुचितैरेव विशेषणै शोभा लभते—गुणोदार साधुर् यथा अभ्यधिक-गुणै सुहृद्भि । यथा, मम, मुनिमतमीमासायाम्—

उ 'चैत्रे सूत्रितयौवना' न्युपवना', न्यामोदिनी पद्मिनी, 67
ज्योत्स्ना-प्रावरणानि रत्नवलभी-हर्म्याणि, रम्या स्त्रिय ।
सर्व चारुतर—न कस्य दयितम् ?, यस्मिस्तु तद् भज्यते,
तद् (मृद्-निर्मित' माम-भाजनमिव) क्षिप्र-क्षय जीवितम् ॥'

अत्र—युधिष्ठिरस्य (आसादित-महाविभूतेर् मयनिर्मित-मणिमयसभा-, अभिमानिनो) विभवप्रभावे वर्ण्यमाने, (सकल-भावाऽभावस्वरूप) अभाववाद-उपदेशिनो महामुने आशय (विचार) ा-ऽवसरे यदुक्तम् 'कुसुमसमय-समुपचित-यौवनानि उपवनानि, मकरन्दाऽमोद-सुन्दरा अरविन्दिनी, ज्योत्स्ना (पट) प्रावृतानि रत्नवलभी-हर्म्याणि, रमणीया रमण्यश्च—इति सर्वमेतत् चारुतर सर्वस्या-ऽभिमतम्, कि-तु—यस्मिन् (इद) भुज्यते, तद् जीवितम् (आम-मृत्पात्र-नि सार) क्षिप्र-क्षयम्'—इति तद्विशेष्य-पदोत्कर्षकारि-विशेषणपद-उदितसौन्दर्येण पर्यन्त (नि सारता)' निर्वेद-सवादि स्फुरद्-औचित्यम् आतनोति । न-तु, यथा भट्टलट्टनस्य—

प्र 'ग्रीष्म द्विषन्तु जलदाऽगममर्थयन्ता 68
ते सकट-प्रकृतयो विकटास् तडागा ।
अब्धेम्-तु मुग्धशफरी-चटुलाऽचलेन्द्र-
निष्कम्पकुक्षि-पयसो द्वयमप्य ऽचिन्त्यम् ॥'

अत्र—'ग्रीष्म द्विषन्तु, मेघा-ऽगम सकटस्वभावाऽ-विकटा (विस्तीर्णाश्च) तटाका प्रार्थयन्ताम्, महाब्धेस्तु बालशफरीलोल-अचलेन्द्रनिश्चल (कुक्षि) पयसो

२३

विशेषण

और विशेषण वो—जो चीज़ की ख़ूबियो को और भी उभार लाये !

67 मय द्वारा निर्मित उस अद्भुत मणि-मण्डप के स्वामित्व मे युधिष्ठिर फूला न समाता था । व्यास मुनि ने, निर्वेद जगाने के लिए अवसर अनुकूल जान, समझाना शुरू किया 'चेत के महीने मे ये जवानी (की रौ) मे गुथे उपवन, ये गन्ध-भरे सरोवर, ये रत्न-खचित (और 'लुभावनी चादनी मे छिटकते) महल, और उनमे—वो, बरबस-चुलबुलाती रमणिया किस का दिल नही हर लेती बसन्त !' उ

—किन्तु जिसके लिए यह सब सभार आयोजित होता है, वह जिन्दगी 'कच्ची मिट्टी का एक घडा है बस। इतना ही है ससार का समारिक जीवन का याथातथ्य !'

68 'गरमी से दुश्मनी और बरसात की चाह—**छोटी मोटी** तलैय्यो को हो तो हो, जिसके पेट मे छोटी-से-छोटी मछलिया तिरती फिरे और ब डे-से-बडे बडे पहाड आराम की नीद सोये—उस समुद्र को तो कभी दोनो का ख्याल तक नही आता ।' प्र

—क्या तालाब स्वभाव मे (चाह मे) छोटे और आकार मे मोटे

ग्रीष्म-घनाऽगमौ-अपि अगणनीयौ' इति यदुक्तम्, तत्र—तडाग-विशेषणयो 'सकट-विकट'पदयो, परस्पर-विरुद्धाऽर्थयो, अनौचित्य स्पष्टमवभासते। सकट-स्वभावस्य हि विकटत्व (विस्तीर्णत्व) नोपपद्यते। अथ—स्वभावे सकटत्वम्, आकारे विपुलत्वम् तदपि (तटाकस्य) निश्चेतनस्य स्वभावा-ऽभावाद्—अनुपपन्नमेव।

२४

उपसर्गौचित्य दर्शयितुमाह—

योग्योपसर्गसंसर्गैर् निरर्गलगुणोचिता ।
सूक्तिर् विवर्धते संपत् सन्मार्गगमनैरिव ॥

उचितै 'प्र'-आदिभिर् उपसर्गै सूक्ति उन्नतिमासादयति (विभूतिरिव सन्मार्ग-गमनै)। यथा, मम, मुनिमतमीमासायाम्—

उ 'आचार भजते, त्यजत्यपि मद वैराग्यमालम्बते, 69
कर्तु वाञ्छति सगभग-गलित (त्तुङ्ग) ऽभिमान तप ।
—दैवन्यस्त-विपर्ययै सुख (शिखा) भ्रष्ट प्र-नष्टो जन
प्रायम् तापविलीन-लोहसदृशीम् आयाति कर्मण्यताम् ॥'

अत्र—दुर्योधनस्य घोष-यात्राया गन्धर्व (बन्ध) पराभव-भग्नाऽभिमानस्य (प्राज्य-साम्राज्यम् उत्सृज्य, तप प्रयत्न-अभिनिविष्टस्य) दुर्ग्रहे वर्ण्यमाने, यदुक्तम् • 'सर्वो जन सुख-भ्रष्ट (प्रनष्ट-विभव) सदाचार भजते, मद त्यजति, वैराग्यम् आश्रयति, सङ्ग-भङ्गेन विगलित-(उत्तुङ्ग) ाभिमान तप कर्तु वाञ्छति—प्राय (बाहुल्येन च) तापविगलित (लोह) पिण्ड-सदृशी कर्मण्यताम् आयातीति'—(अत्र) 'उत्'-पूर्वतया सोपसर्गस्य तुङ्गशब्दस्य स्वभावोन्नतिर्, द्विगुणताम्-उपयाता, दुर्मद-अभिमान-अर्थौचित्यम् उच्चै -करोति। न-तु, यथा कुमारदासस्य—

प्र 'अयि विजहीहि दृढोपगूहन, त्यज, नवसगम-भीरु, वल्लभम् । 70
अरुण-करोद्गम एष वर्तते वरतनु, सप्रवदन्ति कुक्कुटा ॥'

होते है ? और क्या—बेजान चीजो की भी कोई फितरत होती है ?'

२४

उपसर्ग

उपसर्गो का काम है—क्रिया को सही राह दिखा देना।

69 'किस्मत के जब थपेडे पडते है ओर मनुष्य अपने (पुराने) सुख-वैभव के शिखर से गिर जाता है, तब उसमे सभ्यता और विरक्ति के बीज स्व-त प्रस्फुरित होने लगते है। यही नही, सब आसक्तिया उसकी छूट जाती है, और वह अपने उत्तुग 'अह' को गलाने के लिए घोर से घोर तप मे भी प्रवृत्त हो जाता है भट्ठी मे पिघले लोहे की भाति लचीला ओर विनेय !' उ

—प्रसग है गन्धर्वो द्वारा अपमानित होने पर दुर्योधन मे वानप्रस्थ-ग्रहण के लिए जिद। अहकार की स्वाभाविक तुग वृत्ति को **उत्** ने और-भी बढा-चढा दिया है !

70 'सखी, अब तो सवेरा हो गया, जागो, इस पहली-रात मे तुम्हे डर भी लगता रहा होगा आओ, छोडो भी (भीरु, पी' के कण्ठ-ग्रह को) !

अत्र—अभिनव (अनङ्ग) सगम-गाढम् आलिङ्गन-निश्चलाऽङ्ग (च्छन्न) अङ्गना-प्रबोधने सख्या यदुक्तम् 'वल्लभ मुञ्च—प्रभातसध्यायाम् अरुण-किरणोद्गमो वर्तते, कुक्कुटाश्च सप्रवदन्तीति', तत्र—'स-प्र' उपसर्गयो. [शून्यशय्या-पूरणमात्रेण-इव] शब्दपूरणमात्रेण-निरर्थकत्वाद् अनुचितमेव ।

२५

निपातौचित्य दर्शयितुमाह—

उचितस्थान-विन्यस्तैर् निपातैरर्थसगति ।
उपादेयैर् भवत्येव सचिवैरिव निश्चला ॥

उपादेयैश् च-आदिभिर् निपातैर् उचितपद-विनिवेशितै काव्यस्य अर्थसगतिर् असदिग्धा, सत्-सहायैरिव, भवति । यथा, मम, मुनिमतमीमासायाम्—

उ 'सर्वे स्वर्गसुखा-ऽर्थिन क्रतु-शतै प्राज्यैर् यजन्ते (जडास्) 71
—तेषा नाक-पुरे प्रयाति विपुल काल क्षणाऽर्धेन तत्,
क्षीणे पुण्य-धने स्थितिर् न (तु यथा वेश्या-गृहे कामिनाम्) ।
—तस्माद् मोक्ष-सुख समाश्रयत, भो, सत्य च नित्य च यत् ॥'

अत्र—स्वर्गसुखस्य वेश्या-भोगवत् अवसान-विरस-चपलताया प्रतिपादिताया, (निश्चल) मोक्षसुखस्य नि सदेह-निश्चिता प्रतिपत्तिर् निपातपद-उर्बृहिता वाक्यार्थौचित्य जनयति । न-तु, यथा श्रीचक्रस्य—

प्र 'देवो जानाति सर्व—यदपि च तदपि, ब्रूमहे नीतिनिष्ठम् 72
सार्ध सवाय जालाऽन्तर-धरणिभुजा, निर्वृतो बान्धवेन,
म्लेच्छान् उच्छिन्धि, भिन्धि प्रतिदिनमयशो, रुन्धि विश्व यशोभि,
सोदन्वद्-मेखलाया परिकलय कर (कि च) विश्वभरायाम् ॥'

अत्र—क्षितिपतिस्तुति-प्रस्तावे 'देवो जानाति सर्व यदपि च तदपि' इति यदुक्त, तत्र पूर्वाऽपर-पदयो अ-सबद्धत्वेन निरर्थकऽ-एव निरुपयोग चकार, (प्रतत)-

सुनो—मुर्गों का वह सप्रवाद (तुम्हारे लिए प्रभाती गा रहा है) ।'

—दो-दो उपसर्ग और दोनों ही निरर्थक। क्या सस्कृत मे मुर्गे-की-वाग के लिये कोई शब्द नही था (नही है) ?

२५

निपात

निपातो की भी कुछ अपनी-ही सार्थकता, अपनी-ही उपादेयता, होती है—वे निरे 'प(ा)द'-पूरण कभी नहीं होते।

71 'यज्ञ-यागादि द्वारा उपलब्ध स्वर्ग-सुख उतना ही क्षणिक होता है जितनी कि वेश्या के घर मे धन-दौलत वार कर गुजारी एक रात।—बस, अनासक्ति ही एकमात्र सुख है जो सच्चा **भी** है, स्थायी **भी**।' उ

—सच्चा **भी**, स्थायी भी !

72 'नीति तो यह कहती है, महराज, कि परायो के साथ सन्धि द्वारा, अपनो के साथ शान्ति द्वारा, उचक्को के साथ दण्ड-भेद द्वारा, प्रवृत्त होते हुए—राजा को चाहिए वह अपने यश और साम्राज्य के विस्तार मे सोद्योग रहे।' प्र

—लेकिन, चापलूसी मे 'वैसे तो, गरीब-परवर सब कुछ जानते है, **क्या नहीं जानते** ?

'यदपि **च** तदपि' को, व्यर्थ-मे, क्यो घुसेड दिया ? ––

उत्सव-बहुजनभोजनपङ्क्तौ-अपरिज्ञात स्वयमिव मध्ये ममुपविष्ट —पश्चाद्-अभिव्यक्त, पर लज्जादुर्मनौचित्य प्रतनोति ।

२६

कालौचित्य दर्शयितुमाह—

कालौचित्येन यात्येव वाक्यमर्थेन चारुताम् ।
जनाऽवर्जन-रम्येण वेषेणेव सता वपु ॥

कालकृत-औचित्य-युक्तेन अर्थेन वाक्य चारुतामेति—वेष-परिग्रहेण-इव काल-योग्येन सताम् (अवसर-ज्ञाना) वपु । यथा, मम, मुनिमतमीमासायाम्—

उ 'यो ऽभूद् गोप-शिशु पयो-दधि-शिरश्-चौर करीप-कष, 73
तस्यैवा ऽद्य 'जगत्पते, खगपते, शोरे, मुरारे हरे,
श्री-वत्सा-ऽङ्क'—जडै' रिति-स्तुतिपदै कर्णौ नृणा पूरितौ
—ही, कालस्य विपर्यय-प्रणयिनी पाक-क्रिया ऽश्चर्य-भू !'

अत्र—अमर्षविष-विषमाऽविष्कार-मुमूर्षुणा शिशुपालेन अभिधीयमाने 'य किल गोपालबाल पयऽ-उदधि-शिरश-चौर करीषकषोऽ भूत्, तस्यैव अद्य जगन्नाथाऽदिभि स्तुतिपदैर् नृणा कर्णौ पूरितो ही ! (बत !) कालस्य विपर्यय-कारिणी पाक-क्रिया आश्चर्य-भूमि' रिति', तत्र—अभूदिति-भूतकालेन आश्चर्यपरिपोष-रुचिरम्, आरब्धाऽधिक्षेप-लक्षण, वाक्योचित्य कृतम् । यथा-वा, मालवकुवलयस्य—

उ 'च्युतसुमनस कुन्दा, पुष्पोद्गमै' रलसा द्रुमा, 74
मनसि च गिर गृह्णन्ती 'मे—किरन्ति न कोकिला,
अथ च—सवितु शीतोल्लास लुनन्ति मरीचयो
न च जरठताम् आलम्बन्ते क्लमोदय-दायिनीम् ॥'

अत्र—शिशुतरवसन्त-कान्तो'पवन-नवरसोल्लास-सूच्यमान-मनसिजोत्कण्ठ-

जैसे सहभोज मे आमन्त्रितो के वीच कोई ही **बिन-बुलाया 'मेहमान'**, पोल खुल जाने पर, आखिर, हसी और लज्जा का पात्र ही बनता हे।

२६

काल

काल-बुद्धि काव्य मे भी उतनी ही अनुपेक्षणीय है जितनी कि लोकाचार मे अवसरानुकूल वेषभूषादि की तमीज़।

73 शिशुपाल खौल उठा 'उमी को तुम आज मुरारि, हरि, जगदीश्वर ओर क्या-क्या-नही पुकार रहे—जो कभी एक अज्ञात ग्वाले के घर जन्मा **था**, दूध-मक्खन-मलाई चुराया करता **था**, गोये पाथा करता **था** जाहिल कही के!—अजीब है ज़माने के रग (भी) जो काले को भी चिट्टा कर सकते है!! उ

—क्या **था**, ओर आज क्या (हो गया) है?

74 वसन्त का आरम्भ है 'जुही झड रही है, किशुक और अशोक नव-जात कलियो से बोझिल हुए जाते है, कोयलो की कू अभी सयत है, सूर्य की किरणे शीत-हर है—तेज नही—क्लान्ति-प्रद नही ' उ

वर्णनायाम् 'ऋतुर्नवि-समुचिता कुन्दा, कुसुमाऽवसान-शून्यतनव किशुकाऽशोका — कलिकोद्गम-भराऽलसा, मनसि कोकिला कलकूजितानि अनुभवति, रवेर्-मरीचय शीतोल्लासम् अथ निवारयन्ति—न-च सतापदायिनी प्रौढताम् आलम्बन्ते', इति-उक्ते—वर्तमानकालपदेषु-एव हृदयसवादसुन्दरम् औचित्य किमपि आमोदते । यथा-वा, भट्टभल्लट्टस्य—

उ 'मृत्योरास्यमिव ऽतत धनुरिद, मूर्च्छद्-विषाश् चे'षव, 75
शिक्षा सा विजिता-ऽर्जुना, प्रतिलय सर्वाऽङ्ग-लग्ना गति ।
अन्त -क्रौर्यमहो शठस्य—मधुनो, हा, हारि गीत मुखे ।
—व्याधस्या ऽस्य यथा भविष्यति, तथा—मन्ये वन निर्मृगम् ॥'

अत्र—लुब्धकस्य धनु-सायक-शिक्षा-गति-क्रौर्य-गीतानि तथा, यथा वन निर्मृग, भविष्यतीति—भविष्यत्काल (प्रकृताऽर्थ-परिपोषेण) हृदयसवाद-औचित्यम् आदधाति । न-तु, यथा, वराहमिहिरस्य—

प्र 'क्षीणश्चन्द्रो विशति तरणेर् मण्डल मासि-मासि, 76
लब्ध्वा काचित्, पुनरपि, कला—दूरदूरा-ऽनुवर्ती ।
सपूर्णश्चेत्, कथमपि तदा स्पर्धयो-'देति भानो ।
—नो दौर्जन्याद् विरमति जडो, नाऽपि दैन्याद् व्यरसीत् ॥

अत्र—रवेर्मण्डल क्षीण शशी प्रतिमास प्रविशति, तत काचिद् आप्यायिका कला प्राप्य दूरे-दूरे भवति, परिपूर्णश्च तस्यैव स्पर्धया अभ्युदेति दौर्जन्याद् न-विरमति, न-च दैन्याद् व्यरसीदिति—एतौ 'विरमति' 'व्यरसीत्' इति परस्परा-सगत कालपदद्वय (चन्द्रस्य सदृशयोर् दौर्जन्य-दैन्ययो सर्वकालम्-अभिनिर्वृत्तयोर्) यद्-उपन्यस्त, तत्र व्यरसीदिति (विरुद्धाऽर्थत्वाद्) अनुचितमेव ।

नये उन्मादो, नयी उत्कण्ठाओ की ऋतु-सन्धि—वर्त्तमान !

75 'मौत के खुले मुह-सा यह इसका धनुष, विष-बुझे ये इसके बाण, यह हुनर, यह चुस्ती, दिल मे जुल्म और होठो पर 'चाशनिया-भरे गीत' उ

—कैसी धोखे-की-टट्टी है बस, **जगल का अब क्या बच रहेगा** ?

76 'हर महीने चाद फिर सूरज के घेरे मे जा पहुचता है, और फिर चोरी-चोरी बाहर निकल आता है (जैसे-तैसे कलाए सचित करता हुआ), और **फिर**—सूरज से होड लगने लगता है !' प्र

—हा, ऐसे-ही जिद्दी इन्सान भी होते है जो न अपनी दुष्टता मरके-छोडते है, न कभी उन्होने नम्रता-का-स्वाग ही **छोडा**। ये दोनो ही धर्म (चाद मे, और इन्सान मे) स्थायी है, तो फिर—एक के साथ —'भूतकालिक' क्यो ?

२७

देशौचित्येन काव्या-ऽर्थ ससवादेन शोभते ।

पर परिचया-ऽऽसी व्यवहार सतामिव ।।

देशविषयोचित्येन हृदयसवादिना काव्यार्थ, सता व्यवहार इव, परिचय-सूचक शोभते । यथा, (भट्ट) भवभूते—

उ 'पुरा यत्र स्रोत पुलिनमधुना तत्र सरिताम, 77
विपर्यास यातो घनविरल-भाव क्षितिरुहाम् ।
बहोर् दृष्ट कालाद् अपरमिव मन्ये वनमिदम्,
निवेश शैलाना 'तदिदमिति' बुद्धि द्रढयति ।।'

अत्र—बहुभिर् वर्षसहस्रै' रतिक्रान्तै, शम्बूकवध-प्रसङ्गेन दण्डकारण्य (पूर्वपरिचित) पुन-प्रविष्ट, राम (समन्तादवलोक्य) एव-ब्रूते—'पुरा यत्र नदीना प्रवाहो[बभूव], तत्र इदानी तटम्, वृक्षाणा घनविरलत्वे विपर्यय । चिराद्-दृष्ट वनमिदम् अपूर्वमिव मन्ये, पर्वतसनिवेशस्तु एतद् तदेव-इति बुद्धि स्थिरीकरोति' इत्युक्ते, चिरकालविपर्यय-परिवृत्त-सस्थानक (ानन)-वर्णनया हृदय-सवादी देश-स्वभाव परमम्-औचित्यम् उद्द्योतयति । न-तु, यथा, राजशेखरस्य—

प्र 'कर्णाटी-दशनाऽङ्कित, (शित) महाराष्ट्री-कटाक्षा-ऽहत, 78
प्रोढाऽन्ध्री-स्तन-पीडित, प्रणयिनी-भ्रूभङ्ग-वित्रासित,
लाटी-बाहु-विवेष्टितश्च, मलयस्त्री-तर्जनी-तर्जित
—सोऽय मप्रति राजशेखरकविर् वाराणसी वाञ्छति ।।'

अत्र—'कर्णाट-महाराष्ट्र-आन्ध्र-लाट-मलय (ललना) सभोगसुभग (कालेन गलित-राग-मोह), राजशेखरकवि, सम्प्रति, वाराणमी गन्तुमिच्छनीति' उक्ते, श्रृङ्गाररस-तरङ्गित-वराङ्गना-प्रसङ्गे अनङ्गनिरर्गल-दक्षिणापथ (देशोद्देश) मध्ये, प्रणयिनी-भ्रूभङ्ग-वित्रासित इति—देशोपलक्षणविरहित-केवलप्रणयिनीपदेन—देशौचित्यम्-उपचितमपि अनुचितता नीतम् ।

२७

देश

**यथार्थता का तकाज़ा है कवि के लिए देशाचार-
विषयक ज्ञान भी परमावश्यक है।**

77 'जहा उस जमान मे नदिया हुआ करती थी, आज रेत-ही-रेत नजर उ
आती है। बीहड और सुनसान भी—सब—अदल-बदल गये है।
कही-और तो नही आ पहुचे ?'

—नही पहाडो ने अपनी जगह नही छाडी। सो, जनस्थान की (प्राकृतिक) देशीय **स्थिति**—

प्रसगात्—पुन वन मे आये राम के मन मे स्थिर हो जाती है।

78 'भोगोपभोगो से विरत हो कर आज राजशेखर काशी-यात्रा चले है।' प्र

—किन्तु 'कटाक्ष, दन्त-क्षत, आलिगन, गलबाही, तर्जना' के विशिष्ट देशो का प्रसग खुद-ही छेडकर भी यह नही बताया कि किस देश की ललनाओ के **भ्रूभग** ने उसे पहले-पहल दुनियादारी से बिदकाया था ?'

२८

कुलौचित्य दर्शयितुमाह–

कुलोपचितमौचित्य विशषोत्कर्षकारणम् ।
काव्यस्य पुरुषस्येव प्रिय प्राय सचेतसाम् ॥

पुरुषस्येव काव्यस्य कुलोन्नतमौचित्य सविशेषोत्कर्षजनक प्रायेण (बाहुल्येन) सहृदयानामभिमतम् । यथा, कालिदासस्य—

उ 'अथ स विषय-व्यावृत्ताऽत्मा, यथाविधि, सूनवे 79
नृपति-ककुद दत्त्वा यूने सिता-ऽतपवारणम्,
मुनिवन-तरुच्छाया (देव्या तया सह) शिश्रिये ।
—गलित-वयसाम् इक्ष्वाकूणाम् इद हि कुल-व्रतम् ॥'

अत्र—'अथ स राजा, वृद्ध , तरुणाय सूनवे राज्य प्रतिपाद्य, देव्या सह तपोवन भेजे। विरक्त-चेतसाम् इक्ष्वाकूणाम्, अन्ते, इदमेव हि कुल-व्रतम्' इत्युक्ते, भूत-वर्तमान-भाविना तद्वश्यानाम् औचित्यम् उन्मीलितम् । न-तु,यथा,यशोवर्मदेवस्य—

प्र 'उत्पत्तिर भण्डकुले, यदभीष्ट तत् पद समाक्रान्तम् । 80
भोगास् तथाऽपि, दैवात् सकृदपि भोक्तु न लभ्यन्ते ॥'

अत्र—मम उत्पत्तिर् भण्डकुले, समीहितपद-आक्रमण च निष्पन्नम्, तथाऽपि—दैवार्ऽपित-प्रियाविप्रयोगाद् भोगा भोक्तु न लभ्यन्त इति-अभिहिते, स्व-सवेद्यमेव भण्डकुलम् (अन्यत्र-अप्रसिद्ध) स्वयमेव-निर्दिश्यमानम्, उत्कर्ष (विशेषण) विरहित-(केवल) पदोपादानेन, निरर्थकतया—निरौचित्यमेव । इक्ष्वाकु-कुलस्य तु निर्विशेषणत्वम् उपपद्यत एव—त्रिभुवनप्रसिद्ध-औचित्यत्वात् चरित्रस्य ।

२९

व्रतौचित्य दर्शयितुमाह—

काव्यार्थ साधुवादार्ह सद्व्रतौचित्यगौरवात् ।
सतोषनिर्भर भक्त्या करोति जनमानसम् ॥

२८

कुल

और—कुल-परम्पराओ का परिज्ञान भी।

79 'बुढापे मे शास्त्र-मर्यादानुसार जवान बेटे को खुद राज्यछत्र दकर पत्नी-सहित वानप्रस्थ-प्रवेश' उ

—यह है (कभी न बदलने वाली) **रघुकुल-रीत।**

80 'भाडो के (मशहूर) 'खानदान' मे जनम लेकर ओर मन की मुराद (आइ ए एस) हासिल करके भी मुझ बदकिस्मत को जिन्दगी की मौज (बीवी के तलाक की वजह से)—नसीब कभी नही हुई।' प्र

—ये 'भाड' थे कौन ?

२९

व्रत

साथ ही—काव्य मे सजीवता, कुछ भक्ति-रस सा, कुछ उदात्तता, सक्रान्त करने के लिए व्रत-विज्ञान

काव्यार्थं समुचित-व्रतगौरवात् साधुवाद-योग्य सतोषपूर्ण जनमन करोति । भक्तिर् विच्छित्ति । यथा, मम, मुक्तावलीकाव्ये—

उ 'अत्र वल्कलजुप पलाशिन पुष्परेणु(भर)भस्म-भूषिता । 81
(लोल)भृङ्गवलया-ऽक्षमालिकास् तापसा इव विभान्ति पादपा ॥'

अत्र—तपोधनोचित-व्रतव्यञ्जक-वल्कलभस्माऽक्षसूत्रप्रणयि-पादपवर्णनायाम् अचेतनानामपि शममय-विमलचित्तवृत्ति औचित्यम् उपजनयति । न-तु, यथा, दीपकस्य—

प्र 'पुण्ये ग्रामे वने वा महति, सितपट-च्छन्नपाली-कपालीम् 82
आदाय—न्यायगर्भ-द्विज-हुतहुतभुग्-धूमधूम्रोपकण्ठम्—
द्वार-द्वार प्रवृत्तो वर' मुदर(दरी)पूरणाय क्षुधाऽर्त्तो
मानी (प्राणी, सनाथ), न पुन' रनुदिन तुल्य-कुल्येषु दीन ॥'

अत्र—वैराग्य(निरर्गल)वर्णनाया, भिक्षा-कपालीम् आदाय क्षुत्-क्षाम कुक्षि-पूरणाय प्रवृत्तो, मानी वर द्वार-द्वार यष्टि-निविष्टपाणि परिभ्रान्तो—न पुन'-रनिश तुल्य-कुल्येषु दीन ' इत्युक्ते, सहजप्रशम (विमलमानस) विश्रान्तिसतोपम् उत्सृज्य तुल्यकुल्य-द्वेषविजिगीषापर'मेव वाक्य भृशम्-अनौचित्यम् उद्भावयति । वरम् एतत् तीव्र(व्रत)कष्ट, न-तु स्वजन-दैन्ययाचनम्—इति ससारग्रन्थि-बन्धाऽभिमान-उपन्यास ।

का किंचित् परिचय भी अपरिहेय है।

81 ये वल्कल, यह भस्म-सी पुष्परज, ये मडराते भ्रमर उ

—स्वय शान्त-पूत मन को अचेतन पलाशो मे भी **व्रतोचित** तपस्विता तथा अन्त शुचिता ही गोचर होती है।

82 'मित्रो-नातियो मे रोज-रोज की वेइज्जती के साथ टिक्कड खाने से बेहतर है कि मनस्वी, सन्यासियो का दण्ड और भिक्षा-पात्र लेकर, द्वार-द्वार से माग कर पेट भर लिया करे—या फिर, किसी दूर-ग्राम या वन को निकल जाये जहा यज्ञादि मे प्रवृत्त मननशील ब्राह्मण बसते हो।' प्र

—हृदय अशान्त है, मन मे मैल बाकी है, स्वभाव मे चैन अभी आया नही, वैराग्य का बाना फकत अपनो ही से द्वेष और ईर्ष्या मे जलते रहने के लिए **दम्भ** है, और अपनो के आगे हाथ पसारने से बचना—और मुफ्त की जिद मे खुद को खाक कर देना—भी आसक्ति को ढक देना भर है—मुक्ति का व्रत नही।

पुनर्विचारः

९८–१०

तत्त्वे सत्त्वे ऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसग्रहे ॥
प्रतिभायाम् अवस्थाया विचारे नाम्नि अथाऽशिषि ।
(काव्यस्याऽङ्गेषु च) प्राहुर् औचित्य व्यापि जीवितम् ॥

एतेषु (पदप्रभृतिषु) स्थानेषु, मर्मसु-इव, काव्यस्य सकलशरीरव्यापि जीवितम्-औचित्य—स्फुटत्वेन-स्फुरद् अवभासते ।

अन्तर्भूमियां

९८–१०

कमनीयता का जो मार्मिक स्पन्दन इन (पदादि) काव्यागो से फटता-सा (बाहर-निकलने को उत्-सुक सा) प्रतीत होता है उसका मूलस्रोत जानते हो, क्या होता है ?

—उचथस्य नव्य , कवि का अन्तस् ! हृदय की वह अन्तर्लीला इस बहिरग वैभव से कही अधिक कमनीय, कही अधिक 'मोहिनी', होती है।

पुनश्चर्चा

३०

तत्त्वौचित्य दर्शयितुमाह—

काव्य हृदयसवादि सत्यप्रत्यय-निश्चयात् ।
तत्त्वोचिता-ऽभिधानेन यात्युपादेयता कवे ॥

तत्त्वोचिता-ऽख्यानेन कवे सूक्त, सत्यप्रत्यय-स्थैर्यात् सवादि, गृह्यता याति। यथा, मम, बौद्धावदानलतिकायाम्—

उ 'दिवि भुवि फणिलोके, शैशवे यौवने वा, 83
जरसि, निधनकाले, गर्भशय्याऽश्रये वा
—सहगमन-सहिष्णो सर्वथा देहभाजा
न-हि भवति विनाश कर्मण प्राक्तनस्य ॥'

अत्र—प्राक्तनस्य कर्मणस् त्रैलोक्ये, शैशव-यौवन-वृद्धत्वा-ऽवस्थासु, देहिना सह-गमने समर्थत्वात्, न विनाशो ऽस्ती'—ति-उक्ते नि सशय (सकलजन-हृदयसवादि) तत्त्वा-ऽख्यानम् औचित्य ख्यापयति। न-तु, यथा, माघस्य—

प्र 'बुभुक्षितैर् व्याकरण न भुज्यते, न पीयते काव्यरस पिपासितै । 84
न विद्यया केनचिदुद्धृत कुलम् हिरण्यमेवार्जय (निष्फला कला) ॥'

अत्र—अर्थाऽर्थिता-परत्वेन धनमेव अर्जय, क्षुधितैर् व्याकरण न भुज्यते, न च काव्यरस पिपासितै पीयते, न च विद्यया कुल केनचिद् उद्धृत' मिति-उक्ते, सर्वमेतद्—दारिद्र्य (दैन्य) विद्रुतधैर्य-कातरतया तत्त्व-विरहित विपरीतम्-उपन्यस्तम् अनौचित्य (सु-युक्तमेव) । विद्यानामेव सर्वमपत्-प्रसविनीना कुलोद्धरणक्षमत्व, नाऽन्यस्य ।

३०

पते की बात

क्या कवि कुछ पते-की-बात भी कह रहा है ?

83 जैसी करनी वैसी भरनी करम की गति से बच कर निकल सकना असभव है। कही जा छुपो—न इन्हे बूढे का लिहाज, न बाले का ये ढूढ ही निकालेगे तुम्हे । उ

—**सच्चाई** हमेशा सन्देह-शून्य होती है और, इसीलिए, दिल लगती भी है ।

84 'काव्य, व्याकरण, विज्ञान—सब व्यर्थ है, किसी काम नही आने के, एक पैसा ही है जो मुसीबत के वक्त भी मददगार हो सकता है ।' प्र

—गरीबी जब इन्सान को बे हौसला और बुज़दिल बना देती है, वह ऐसे **झूठे फिलसफे** खडे कर लिया करता है और 'विद्या कि विभूति को अपना और अपनो का उद्धार करने मे असमर्थ पाया करता है!'

३१

सत्त्वोचित्यं दर्शयितुमाह—

चमत्कारं करोत्येव वच सत्त्वोचित कवे· ।
विचार (रुचिरो-'दार) चरित सुमतेरिव ।।

सत्त्वोचित कवेर् वचश् चमत्कार करोति—सुमतेरिव विचार्यमाण रुचिरम् उदारचरितम् । यथा, मम, चित्रभारते नाटके—

उ 'नदीवृन्दोद्दाम-प्रसर-सलिला-ऽपूरिततनु 85
स्फुरत्स्फीतज्वाला-निबिडवडवाऽग्नि-क्षतजल ।
न दर्प नो दैन्य स्पृशति बहुसत्त्व पति'रपाम्
—अवस्थाना भेदाद् भवति विकृतिर् नैव महताम् ।।'

अत्र—पयोधि-व्यपदेशेन, युधिष्ठिरस्य सत्त्वोत्कर्षे अभिधीयमाने, सरित्पूर-प्रवर्धित-तनुर् वडवाऽग्नि-निष्पीतश्च अब्धिर् विपुल-सत्त्व न-उत्सेक न-सकोचम् स्पृशति । न-हि अवस्थाना भेदात्—महाऽशयाना विकारो भवती' ति-उक्ते, गम्भीर-धीरा सत्त्ववृत्तिर् औचित्यमातनोति । न-तु, यथा, भट्टेन्दुराजस्य—

प्र 'आश्चर्यम्—वडवानल स भगवान् आश्चर्यमम्भोनिधिर् 86
यत्-कर्माऽतिशय विचिन्त्य मनस कम्प समुत्पद्यते
एकस्या ऽशय-घस्मरस्य पिबतम् तृप्तिर् न जाता जलैर्,
अन्यस्याऽपि महात्मनो न वपुषि स्वल्पोऽपि जात श्रम ।।'

अत्र—वडवाऽनल-समुद्रयो सत्त्व-महत्त्वे वक्ष्यमाणे, नाऽतिविपुलाशयत्वाद् एकस्य-पिबत पयोभिस् तृप्तिर् न जाता, द्वितीयस्य तदुपजीव्यमानस्य न मनागपि खेद । तदेतत् उभयम् आश्चर्यम् इति-उक्ते—(नि सतोषतया च सततया कस्य) न वडवाग्नेर् लज्जा ?, न-च जलनिधेर् आश्रित-एकाऽर्थि-पूरणसामर्थ्यम् इति-असत्त्वे सत्त्व-स्तुतिर् अनौचित्यमावहति ।

३१

महिमा

क्या कुछ महामहिमता, पात्र की, कवि की उक्तियो में भी उतरी है ?

85 'नदिया उसका घर भरती है तो उसका सिर फिर नही जाता, और वडवानल उसे दिन रात सुखाती ही रहती है तब भी दीनता उसे छू नही जाती ।' उ

महापुरुष भी उसी मिट्टी के बने होते है जिससे समुद्र की अचल गम्भीरता बनी होती है। धन आये-जाये उनकी **अन्त समता** मे अन्तर नही नही आता, नही आ सकता।

86 'समुद्र और बडवानल—आश्चर्य के दो छोर है एक की प्यास बुझने मे ही नही आती, और एक है कि उसे जरा-भर थकान माहसूस नही होती।' प्र

—समुद्र के पास अतुल सम्पत्ति है और वह एक भी मगते की झोली नही भर सकता, और बडवानल है, तो निरन्तर **असन्तोष** की जीती-जागती मिसाल **लानत है** दोनो पर!

३२

अभिप्रायौचित्य दर्शयितुमाह—

अ-कदर्थनया सूक्तम् अभिप्रायसमर्पकम् ।
चित्तमावर्जयत्येव सता स्वस्थमिवा ऽर्जवम् ॥

अक्लेशेन-अभिप्रायसमर्पक काव्य हृदयमावर्जयति (सज्जनाना निर्मलमार्जवमिव) । यथा दीपकस्य—

उ 'श्येनाऽङ्घ्रि-ग्रह-दारितो'-त्तरकरो ज्याऽङ्क-प्रकोष्ठाऽन्तर 87
आताम्रा-ऽधर-पाणि पाद-नयन(प्रान्त) पृथू-'र स्थल —
मन्ये ऽय द्विज-मध्यगो नृप-सुत कोऽप्य ऽम्ब नि-शम्बल ।
पुत्र्ये, 'व यदि—कोष्ठमतु (सुकृतै प्राप्तो विशेषाऽतिथि)॥'

अत्र—स्वैर-रमणी, दिनाऽवसाने रमणीय युवान-पथिकम् आलोक्य, अभिप्राय-सूचक जननीम् एव-ब्रूते यत्—असो राजपुत्राऽकृति श्येनग्रह-नाराचपरिचय-उचित साय समये प्राप्त, इति उक्ते—मात्राऽपि अभिप्राय-पूरकम् अभिहितम्—पुत्रि, यदि एव, तत्—कोष्ठाऽङ्क प्रविशतु, सुकृतैर् विशेषो-ऽतिथि प्राप्त, पूज्य इति एतेन स्फुटाऽभिप्राय-सूचकम् औचित्यम् उपचितम्-आचकास्ति । न-तु, यथा अस्यैव—

प्र 'अयि विरह-विचित्ते भर्तुरर्थे तथा-ऽर्ता 88
सपदि निपतिता त्व पादयोश् चण्डिकाया ।
स्वयमुपहित-धूपस्थालक-च्छत्रशृङ्गो-
'ह्लितमपि ललाट येन नैवा 'ललक्षे ॥'

अत्र—सुचिराद्-आगते विनयवत्या पत्यौ, ललाट(नख)उल्लेख-अपवह्नवचने सख्या समुपदिश्यमाने हे विरहोन्मत्ते, भर्तुरर्थे चण्डिकापाद-पतने स्वयस्थापित-धूपस्थालकोटि-क्षतमपि न-लक्षित भवत्या ललाटम्—इति-उक्तौ, स्वैराऽपह्नव-शिक्षामात्रमेव उपलक्ष्यते, न-तु तस्या, सख्या वा, कश्चिद् अ भप्राय-विशेष ।

३२

ध्वनि

क्या कवि के शब्दो मे हृदय की 'अ-कथित' वृत्ति की ध्वनि भी कुछ सुन पडती हे ?

87 छिनाल ने सझा-वेले घर आकर कहा 'मा, इन बाह्मनो मे जो वह जवान है-ना, वह चौडी-छाती वाला—वो लाल-लाल होठ, हाथ, पैर, आखे उसकी एक हाथ पर बाज के दो-एक घाव है तो दूसरी कलाई पर साफ डोरी की रगड के निशान है—**मेरा राजा** ' उ

'हा, बेटी, हमारे धन-भाग जो **ऐसे मेहमान** को भगवान् ने इस घर भेजा' —बुढिया ने अनुमति दे दी।

—**और रात** आ ही रही थी !

88 'पिया के लिए पूजा-पाठ करो—कोई बुराई नही, लेकिन—विरह मे, इतनी बेसुध होकर, गोरी के चरणो मे न गिर पडो कि तुम्हारी अपनी ही धूप-थाली के दन्दे तुम्हारा माथा फोड दे !' प्र

—हर बात को **दम्भ की शक्ल** देने मे ट्रेन्ड होने का एक नमूना भर है, यह, लेकिन है **बेमतलब** ।

३३

स्वभावोचित्य दर्शयितुमाह—

स्वभावौचित्यमाभाति सूक्तीना चारुभषणम् ।
अकृत्रिममसामान्य लावण्यमिव योषिताम् ॥

स्वभावोचितत्व कविवाचाम्-आभरणम् आभाति—अकृत्रिमम् अनन्य-सामान्य लावण्यमिव ललनानाम् । यथा, मम, मुनिमतमीमासायाम्—

उ 'कर्णोत्तालित-कुन्तलाऽन्तनिपतत्-तोय (क्षण) ासङ्गिना 89
हारेणेव वृत-स्तनी पुलकिता शीतेन सीत्-कारिणी ।
निर्धौताऽञ्जन (शोण) कोणनयना स्नाना-ऽवसाने ऽङ्गना
प्रस्यन्दत्-कबरी (भरा) न कुरुते कस्य स्पृहा-ऽर्द्र मन ॥'

अत्र—व्याससूनो (शुकस्य) गाढवैराग्य-नि सङ्गस्य, गगनगङ्गा-तीरे स्नानोत्तीर्णास् त्रिदश-योषितो विवसना (तद्दर्शन-नि सकोचा) पश्यत —प्रशम-विमलमनस स्मर-व्यतिकर-निर्विकारताया प्रतिपाद्यमानाया, कर्णमलोत्क्षिप्त-अलकपर्यन्तनिपतत्-तोयकणसतानेन स्तनयो -कृत (मुहूर्त) हारविभ्रमा, शीतेन रोमाञ्च-सीत्कारिणी, धौताऽञ्जन-अरुण-नयनाऽन्ता, प्रस्रवद्-मुक्तकेश (कलापा), स्नानोत्तीर्णा तरुणी—कस्य मन स्पृहा-ऽर्द्र न करोति—इति-उक्ते, स्वयम्-आर्द्रस्वभाव परमपि आर्द्रीकरोति—इति-उचितमेतत् । न-तु यथा, मम, तत्रैव—

प्र 'भक्ति कातरता, क्षमा सभयता, पूज्यस्तुतिर् दीनता, 90
धैर्य दारुणता, मति कुटिलता, विद्याबल क्षोभताम्,
ध्यान वञ्चकता, तप कुहकता, शील-व्रत षण्ढताम्
—पैशुन्य-व्रतिना गिरा किमिव वा ना ऽयाति दोषा-ऽर्द्रताम् ॥'

अत्र—पिशुन-स्वभावे वर्ण्यमाने, भक्त्याऽदीना गुणाना वैपरीत्ये प्रतिपादिते, पिशुनाना वचसा कि वा दोषा-ऽर्द्रता न-अयाति—इति-अभिहिते, स्वयम्-अनार्द्रस्वभावस्य पर-आर्द्रीकरणम् अनुचितमेव ।

३२

अनलकृता

क्या कवि के वर्णनो मे कुछ 'अनलकृत' स्वाभावाकिता भी है ?

89 'गगा-स्नान के अनन्तर भीगे बालो से बानी की धार-सी बहती आये और उ
वही निरन्तर मोती बन-बन उरोजो को कुछ ढक-सा भी दे, आखो का काजल धुल जाने से उन्हे कुछ लाली-सी छू जाय, कुछ सरदी मे और कुछ पुलको मे ठिठुरती-सी '

—**स्वय रस मे डूबी** सुन्दरता किसको रस मे नही डूबो देगी ? स्वाभाविकता का एक पार्श्व यह है और एक, इन्ही दिव्यागनाओ के समुख, शैशव मे ही जिसमे विरक्ति प्रबल हो चुकी है ऐसे शुक के अबोध-निर्मल-प्रशान्त चित्त की 'मोहिनी' की 'अविकारी भाव' है ।

90 'उसकी नजर मे 'भक्ति कायरो के गिडगिडाने के अतिरिक्त कुछ नही है, प्र
स्तुति-पूजा बस आन्तरिक दीनता का ही एक प्रतिरूप है जप-ध्यान-तप—सब ढोग, और चरित्र-स्खलन से बचने का निश्चय—नपसकता'

—पतितात्मा हर चीज को पतनोन्मुखता के रगो मे ही बोर देती किन्तु , जो चीज **खुद शुष्क** हो वह किसी ओर को बोरेगी कैसे ?

३४

सारसग्रहौचित्य दर्शयितुमाह—

सारसग्रहवाक्येन काव्यार्थ फलनिश्चित ।
अ-दीर्घसूत्र-व्यापार इव कस्य न समत ॥

सारसग्रह-वाक्येन काव्यार्थ सुनिश्चित-फल, शीघ्रकारिणऽ-इव व्यापार कस्य न-अभिमत ? यथा, मम, मुनिमतमीमासायाम्—

उ 'विविध (गहन-गर्भ) ग्रन्थसभार-भारैर् 91
मुनिभि 'रभिनिविष्टैस तत्त्वमुक्त न किचित् ।
कृत-रुचिर-विचार सारमेतद् महर्षेर्—
अहमिति भवभूमिर् ना-ऽहमित्येव मोक्ष ॥'

अत्र—भगवद्गीता-ऽर्थविचारे सारसग्रहो ऽभिहित, यत्—किल मुनिभिर् अनेकभेदभिन्न-शास्त्रजडैर् अभिनिविष्ट-मतिभिस् तत्त्वम् (उपादेय) न किचित् कथितम् । भगवतो महर्षेर्-व्यासस्य सुमतेर् विमलविचारो-'त्तीर्ण (निश्चित) म् एतदेव यन्—अहकार ससार-मूलभूमिर्, ममता-परित्याग एव मोक्ष इति । तत्—सक्षेपेण भवक्षयो-'पदेश प्रकृताऽर्थस्य परमम्-ओचित्य पुष्णाति । न-तु, यथा परिव्राजकस्य—

प्र 'तपो न तप्त वयमेव तप्ता, भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता । 92
जरा न जीर्णा वयमेव जीर्णा, तृष्णा न याता वयमेव याता ॥'

अत्र—वयमेव तप्ता भुक्ता जीर्णा याता इति-उक्ते, नि सार-अचारुत्वात् अपर्यवसितो वाक्याऽर्थ, फल-शून्यतया, सारसग्रहो-'चित न किचित् प्रतिपादयति ।

३४

गागर मे सागर

क्या कही-कही वह गागर-मे-सागर भी भर सका है ?

91 इन भारी-भरकम पोथियो मे कुछ नही धरा, ओर न तपोरत मुनि जन ही उ
कभी अपनी जुबान इस मामले मे खोलेगे। गीता का सार स्वय भगवान् (व्यास) के शब्दो मे इतना ही है कि सब मुसीबतो की जड है—'**अहकार**', ओर सच्ची शान्ति का एकमात्र और सच्चा उपाय है—अहकार-से-**मुक्ति**।

—**निर्मल** चित्त के समुख किस प्रकार सारी उलझने आपसे आप **सुलझ** जाती है !

92 'ये भोग, तप, जरा और तृष्णा, उलटे, हमे ही खतम कर जाते हैं। वक्त प्र
नही गुजरता, हम्ही गुजर जाते है।'

—शब्द-योजना मे कुछ आकर्षण शायद है किन्तु तत्त्व कुछ भी नही **हृद्य नहीं**।

३५

प्रतिभौचित्य दर्शयितुमाह—

प्रतिभा-ऽभरण काव्यम् उचित शोभते कवे ।
निर्मल सुगुणस्येव कुल भूति-विभूषितम् ॥

प्रतिभा-अलङ्कृत कवे काव्यम उचित, गुणवत कुलमिव वि-मल—लक्ष्म्या-प्रकाशित शोभते । यथा, मम, लावण्यवत्याम्—

उ 'अदय, दशसि कि त्व बिम्ब-बुद्धया ऽधर मे ? 93
भव, चपल, निराश पक्व-जम्बूफलानाम् !
—इति दयितमवेत्य द्वारदेशा-ऽप्त' मन्या
निगदति शुक' मुच्चे कान्तदन्त-क्षतोष्ठी ॥'

अत्र—कयाऽपि, द्वारदेश-आप्त प्रिय ज्ञात्वा, अन्यकामुक-दशनखण्डित-ओष्ठया (सप्रति) तदागमन-अनभिजया-इव, शुकमुद्दिश्य, 'निर्दय, कि त्व बिम्बफल-लोभात् अधर मम विदारयसि ? चपल, पक्वाना जम्बूफलानाम् इदानी निराशो भव । कुपिता, तुभ्य नो दास्यामीति, तेन-उक्त प्रत्यायन-अपह्नव-नवोन्मेष (प्रज्ञा) चातुर्य-चारुवचनम् औचित्य-चमत्कार करोति । यदाह भट्टतोत—

3 **प्रभा**] 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' इति । न-तु यथा मम, तत्रैव—

प्र निर्याते दयिते, गृहे विशयने निर्माल्य-माल्ये हृते, 94
प्राप्ते प्रात' रसह्य-रागिणि' परे (वाराऽवहारे) ऽन्यया—
द्वाराऽऽलीन-विलोचना व्यसनिनी सुप्ताऽहमेकाकिनी'
त्युक्त्वा नीवि-निकर्षणे स चरणा-ऽघातै' रशोकी-कृत ॥'

अत्र—वेश्या, व्यालग्न-कामुकस्य वारा-ऽवहार विधाय, नव-कामुकेन सह क्षपाया नीताया (प्रभाते तस्मिन् निर्याते) शय्याकुसुमाऽदि-सभोगलक्षणे निवारिते, वारवञ्चन-कुपिते गाढाऽनुराग (ग्रह) ग्रस्तमनो[१] पूर्व-कामुके प्राप्ते, त्वत् (आलोकन)-

३५

वक्त की सूझ

क्या उसके पात्रो मे (ऊट की गलत-करवट पर) कभी-कभी कुछ प्रत्युत्पन्न मति, कुछ हाजिर-जवाबी, भी रग लाई है ?

93 'कम्बख्त कही का, (बिम्ब समझ कर) मेरे होंठ ही काटने लगा ! अच्छी बात है,—आज से तेरे जामुन-शामुन **सब बन्द** कुट्टी !' उ

—घरवाला शायद वापिस आ चुका है, लेकिन कदम अन्दर पडने से पहले ही कैसी **सूझ** से अपनी करतूतो पर परदा डाल लिया तोताराम को जोर-जोर स यह कह कर—विदग्धा ने ! देखा ?

अकल बडी ! [**प्रमा** 3

94 रात तो किसी ओर के साथ (अपने ही घर) गुजार दी, ओर जब पुराना प्रेमी, कामुकता पर काबू न पाता हुआ[1], अली-सुबह खुद ही इधर आ निकला (क्योकि 'शमा' तो अपना वचन निभाने निकली नही थी), वह बोली 'मुझे तो सारी रात दरवाजे पर आखे गाडे आखिर, अकेली थी-ना, **अब नीद** आने लगी थी।—वासना ओर भडक उठी ओर प्रेमी ने सुथनिया की तरफ , तो 'हटा भी !' ओर उसने—लात कस मारी ! प्र

—सारा गुस्सा प्रेमी का काफर हो गया ! वह अ-शोक के फूलो की

काङ्क्षिणी (व्यमनिनी) द्वारन्यस्त-नयना अहमेकाकिनी सुप्तेति—प्रत्यायना (वचन) विलीनमन्यु (म-रभम) सरस-नीविकर्षण (उद्धत-आकृति) कृत-ईर्ष्याकोपया चरण (नलिन) प्रहारैर् अशोकी-कृत —शङ्काशल्य-उन्मूलनेन नि-शोक सपादित, सतत-पुलकाऽङ्कुरत्वात् अशोक-तरु-तुल्यता नीत इति वा (वाक्यार्थ)—केवल (सत्यविप्रलम्भ) प्रागल्भ्यमात्रम् एव गणिकाया, गाढ-रागमूलता[1] च [कामुकस्य], प्रतिपादयति, न-तु प्रतिभोद्भूताम औचित्य-कणिका सूचयति।

३६

अवस्थौचित्य दर्शयितुमाह—

अवस्थोचितमाधत्ते काव्य जगति पूज्यताम्।
विचार्यमाणरुचिर कर्तव्यमिव धीमताम् ॥

अवस्थोचिततया काव्य जगति श्लाघ्यतामायाति—मतिमतामिव कृत्य विचार-निर्घर्ष-रुचिरम्। यथा, मम, लावण्यवत्याम्—

उ 'मुक्त कन्दुकविभ्रमस्, तरलता त्यक्तैव बाल्योचिता, 95
मौग्ध्य निर्धुत', माश्रिता गजगतिर्, भ्रू-लास्य' मभ्यस्यते
यद्—नर्मोर्मिषु निर्मित मृगदृशा वैदग्ध्य-दिव्य वच,
तद्—विद्म सुभगाऽभिमान-लटभाऽभावे निबद्धो भर ॥'

अत्र—यदुक्त 'कन्दुकक्रीडा'त्यक्ता, बालचापल्य परिहृतम्, मौग्ध्य निरस्तम्, गजगति' रङ्गीकृता, भ्रूलता (लास्या)-ऽभ्यास क्रियते, नर्मोर्मिषु वचन-वैचित्र्यम् आसूत्रितम् तेन जानीमहे—शैशवाऽवस्था, समुत्सृजन्त्या, यौवन'-माश्रयन्त्या (प्रौढताम्-अनारूढयाऽपि) नवसभोग-गौरवगतेन सुभगाऽभिमानेन—बालया लटभा-भावे भरो निबद्ध' इति-अभिहिते, (स्फुट-मृदु-सबद्ध) वयोऽवस्था (मध्य) सधि-वर्णनायाम औचित्य स्फुरत्-इव अवभासते। न-तु, यथा राजशेखरस्य—

तरह खिलखिला उठा ! ! उसे शक हो भी कैसे सकता था (शमा का नया—उसे अज्ञात—प्रेमी) 'जोश' जा चुका था बिस्तर, फल-इतर—सब-कुछ वहा से पहले-ही उठ चुका था। खर, लेकिन यह सब तो सचाई को छुपाने की वेश्याओं की साधारण चातुरी मात्र है, **बाये हाथ का खेल** भर है, मौके की सूझ-बूझ की तो बू भी कही-नही इसम ।

३६

'बाली' उमरिया

क्या पात्रो के कारनामे उनकी उम्र-वगैरह के मुताबिक है ?

95 'बचपन की वह खेलकूद, वह चचलता, वह अबोध मधुरिमा नही रही, अब तो चाल-ढाल मे, मज़ाक मे, समझदारी मे—हर चीज़ मे कुछ **अन्दाज** भरता जाता है उ

—और कोशिश के साथ (बटोरा जा रहा है) फूल खिलने से पहले कली मे कुछ अभिमान जाग उठा हो और वह **अगडाइया** भरनी शुरू कर दे !

प्र ज्यायान् धन्वी—नवधृतधनुस्-ताम्रहस्तोदरेण, 96
क्षत्र-क्षोद (व्यतिकर) पटुम्—ताटका-ताडकेन,
कर्णाऽभ्यर्ण-स्फुरितपलित क्षीर-कण्ठेन सार्धम्
—योद्धु वाञ्छन् न-कथ' ममुना लज्जते जामदग्न्य ?'

अत्र—भार्गव स्थविराऽवस्था-स्थित (स्थिरतर) पराक्रम-कर्कश-प्राढो (धनुर्धर) शिशुना रामेण धनुग्रहण-अरुणित (कोमल) कर (कमल) तलेन, क्षत्रिय-क्षय (सरम्भ) प्रगल्भ ताटका-ताडकेन, स्फुरत् (आकर्ण) पलित सभाव्यमान (जननी-स्तन) क्षीरकण्ठन अमुना युयुत्सु—कथ-न लज्जते इति-उक्ते पेशलतया राघवा-ऽवस्थाया जामदग्न्य (ावस्था) विपरीताया प्रतिपाद्यमानाया, ताटका-ताडकेनेति विरुद्धाऽभिधायो अर्थ चेतसि किमपि अनौचित्येन सकोचमादधाति।

३७

विचारौचित्य दर्शयितुमाह—

उचितेन विचारेण चारुता यान्ति सूक्तय ।
वेद्यतत्त्वा-ऽवबोधेन विद्याऽ-इव मनीषिणाम् ।।

विचारोचित्येन सूक्तयश् चारुता यान्ति—ज्ञेय (स्व-रूप) ज्ञानेन विदुषा विद्या इव। यथा, मम, मुनिमतमीमासायाम्—

उ 'अश्वत्थाम-वधाऽभिधान-समये सत्यव्रतो-'त्साहिना 97
मिथ्या धर्मसुतेन जिह्म-वचसा हस्तीति यद व्याहृतम्।
सा सत्याऽमृत (रश्मि)-वैर' मसम मसूचयन्त्यास्, तदा,
शङ्के, पङ्कज-सश्रयेण मलिनारम्भा विजृम्भा श्रिय ।।'

अत्र—द्रोणनिधना-ऽख्याने सत्यव्रत-उत्साहवता धर्मतनयेनाऽपि मिथ्या, लघुवचसा, कुञ्जर इति यदुक्त, सा—सतत (सत्य) चन्द्रद्वेष सूचयन्त्या श्रिय, शङ्के, पङ्कज-सश्रयेण मलिन-व्यपारा विजृम्भा—इत्यभिहिते, ससवाद-लक्ष्मी-

96 'उम्र इतनी कि धौले आ गये, इतनी बार पृथ्वी को क्षत्रियो से शून्य करके भी हवस नही मिटी, पर—लड़न भी चला अबके, तो एक दूध-पीते बच्चे के साथ जिसके लाल-लाल नन्हे हाथो ने अभी-अभी एक नकली तीर-कमान किसी ने जी बहलाने को थमा दिया है। लाज तो नही आती!' प्र

—'विरुद्ध स्थिति' यहीं तक कुछ ठीक थी। 'ताटका-वध' का स्मरण कराकर **वह चीज़ नहीं** रह जाती, उलटे, खलती है।

३७

'अज्ञात' तथ्य

क्या कभी वह किसी 'अज्ञात तथ्य' के प्रकाशन द्वारा वस्तुस्थिति को स्पष्ट भी कर देता है?

97 'मरा हाथी था, किन्तु, धर्मावतार (युधिष्ठर) ने झूठ ही 'अश्वत्थामा मारा गया, अश्वत्थामा मारा गया!' चिल्ला दिया।—क्यो? मुझे तो लगता है यह पद्म का चन्द्रमा से पुराना वैर ही था जो उस कीचड की जाई (पद्मा) ने एक चन्द्रवशी की वाणी मे वह वक्रता, वह पाप, भर कर उस दिन चुका दिया!' उ

—सत्य यह था ('जिसका हमे ख्याल भी न आ सकता था।),

स्वभाव-परिभावनतया, तत्त्वा-ऽवबोधेन—मूल-विश्रान्त्या, फल-पर्यवसायी विचार सहृदयसवेद्यम् औचित्य व्यनक्ति। न-नु, यथा मम तत्रैव—

प्र 'प्रम्लाने चिर (काल) वृत्त (दयिता) केशा ऽम्बरा-ऽकर्षणे 98
क्रूर राक्षस-वैशस यदि कृत भीमेन दु शासने।
तत्—काल-क्षमिणा (कुशा-ऽश्म) परुत्राऽरण्यप्रवासे चिर
कि पीत, तत, तापमग्न-महिष-स्वेदाऽम्बु-पृक्त पय ॥'

अत्र—भीमसेन-चरिते विचार्यमाणे, त्रयोदशवर्ष-पर्युषिते कृष्णा-केशाऽकर्षण-पराभवे, भीमेन भीम राक्षस-कर्म दु शासने यत् कृत, तत्—सद्य कृत-आर्द्राऽपराध (काल) क्षमिणा सुचिर (दर्भसूची-विषमाऽश्म) परुष-वनवासे कि ग्रीष्मताप-निमग्नमहिष-स्वेदस्रुति-पृक्त पय पीतम्—इति-अनुपपन्न-कृत्ये अभिहिते, कारण-(विचार) ाभावाद्—निर्मूल-उपालम्भमात्रम् अनौचित्यम् अनुबध्नाति।

३८

नामौचित्य दर्शयितुमाह–

नाम्ना कर्मानुरूपेण ज्ञायते गुणदोषयो।
काव्यस्य पुरुषस्येव व्यक्ति सवाद-पातिनी॥

काव्यस्य कर्म औचित्य, तेन—नाम्ना (पुरुषस्येव) गुणदोष-व्यक्ति सवादिनी ज्ञायते। यथा, कालिदासस्य—

उ 'इद' मसुलभवस्तु-प्रार्थनादुर्निवार 99
प्रथममपि मनो मे पञ्चबाण क्षिणोति।
किमुत—मलयवाता-ऽन्दोलिता-ऽपाण्डुपत्त्रैर्
उपवन-सहकारैर् दर्शितेष्व 'ङ्कुरेषु ?'

अत्र—प्रारम्भे-एव मम इद-मन पञ्चबाण सुदुर्लभवस्तु-प्रार्थनादुर्निवार शकलीकरोति, किमुत—लीलोद्यान-सहकारैर् मलयानिल-आन्दोलितबालपल्लवैर्

अब, युधिष्ठिर दोषी नही रह जाता ।

98 'द्रोपदी के चीर और केश हरण के बरसो-पुराने भूले किस्से को लेकर ही यदि भीम ने दु शासन को इस नृशसता मे मारना था, तो क्यो न यह बदला उसने बनवास की मुसीबते झेलने के वक्त ही ले लिया जब कि वह अपमान अभी ताज़ा था और पाण्डवो को सुथरा पानी तक पीना भी उन दिनो नसीब न होता था ?' **प्र**

—'तब क्यो ऐसा नही किया गया ?' इसके सही कारण को जानबूझ कर छुपाये रखने से, कवि की भीम से शिकायत ही ख़ुद ही **बेबुनियाद** हो जाती है।

३८।

'समर्थ पदविधि'

किन्तु—क्या वह शब्दो का प्रयोग सोच समझकर, सार्थकता के साथ करता है

99 'मनोरथ की दुर्लभता ने मुझे पहले ही बेचैन कर रखा है। ऊपर से यह हवा निगौडी पत्तो को क्षणक्षण खिसका कर आम के नये **बौर** दिखा रही है ' **उ**

—कैसे बच सकता है दु ष्यन्त **फूलो की डोरी-वाले के इन क़ातिल बाणो से** ?

अङ्कुरेषु दर्शितेषु—इत्युक्ते, मदनस्य पञ्चबाणा-ऽभिधानम उचितमेव । यथा-वा, मम, बोद्धावदानलतायाम्—

उ 'तारुण्येन निपीत-शैशवनया माऽनङ्ग-शृङ्गारिणी 100
तन्वङ्गया सकलाऽङ्ग-सङ्गम-सखी भङ्गिर् नवाऽङ्गीकृता ।
नि सरम्भ-पराक्रम पृथुतराऽऽरम्भा-ऽभियोग विना
साम्राज्ये जगता यया विजयते देवो विलासा-ऽयुध ॥'

अत्र—यौवन-निपीत-शैशवतया, तन्वङ्गया अनङ्ग(शृङ्गार)वती सर्वाऽङ्ग-सगम-सखी सा काऽपि अभिनवा भङ्गिर् अङ्गीकृता, यया—निष्प्रयत्न-पराक्रम प्रभूततर-आरम्भसभार विहाय, त्रिभुवन-साम्राज्ये जयति देवो विलासायुध—इत्युक्ते, कामस्य विलासाऽऽयुध इति नाम उपपन्नमेव । तन्वङ्गी-भङ्ग्यव (सिद्ध) त्रैलोक्याऽऽधिपत्य-विजिगीषाया काससायकाऽऽदीना नरर्थक्यात् । न-तु, यथा कालिदासस्य—

प्र 'क्रोध प्रभो सहर सहरेति यावद् गिर खे मरुता चरन्ति । 101
तावत् स वह्निर् भवनेत्र-जन्मा भस्मा-ऽवशेष मदन चकार ॥'

अत्र—पश्यतो भगवतस् त्रिनेत्रस्य स्मरशर-निपात-क्षोभे वर्ण्यमाने, तद् विकार (कोप) शमाय 'सहर सहर प्रभो क्रोधमिति' यावद् वच खे देवाना चरति, तावद् भव-नेत्राद्भव स वह्निर् मदन भस्म (राशि) शेषम् अकार्षीत्—इति-उक्ते, महारा-ऽवसरे रुद्रस्य भवा-ऽभिधानम् अनुचितमेव ।

३९

आशीर्वचनौचित्य दर्शयितुमाह—

पूर्णाऽर्थ-दातु काव्यस्य सतोषित-मनीषिण ।
उचिता-ऽऽशीर् नृपस्येव भवत्य ऽभ्युदयाऽऽवहा ॥

सपूर्णार्थ-समर्पकस्य सतोषित-विदुष काव्यस्य नृपतेरिव उचितम आशी-पदम् अभ्युदयाऽऽवह भवति । यथा, अस्मदुपाध्याय-गङ्गकस्य—

100 'बचपना जवानी मे कही लुप्त हो गया है। और नाजनीन ने एक बिलकुल उ
नये नाज-सिगार को जसे अपनी अभिन्न-सखी बना लिया है—**नाज** जो, देखो ना, उसके रोम-रोम को बाहो मे भर रहा है, (नाज जो अकेला ही लोक-लोकान्तरो को एक चुटकी मे काबू करने के लिए (कामदेव के हाथ मे, एक अ-द्वितीय अस्त्रवत्) पर्याप्त हे!'

—अस्त्र विलास हो, और उसे उठाने वाला विलास-का-वीर (न कि फूलो की डोरी वाला) है-ना ?

101 'इससे पहले कि देवताओ की चीख भगवान् के कान तक पहुचती, शिव प्र
की क्रोधाग्नि कामदेव को भस्म-शेष कर चुकी थी।

—किन्तु सहार के देवता (हर) को '**उत्पत्ति का देवता**' (भव) कह कर पुकारना सार्थक नही कहा जा सकता।

३९

समर्थो वरविधि

और वही वि-लक्षण सार्थकता—क्या उसके 'आशीर्वचनो' मे भी कुछ मिलनी है कि नही ?

उ 'स कोऽपि प्रेमा-ऽर्द्र प्रणय(परि)पाक-प्रचलितो 102
विलासो ऽक्ष्णा देयात् सुखमनुपम वो मृग-दृशाम् ।
यदाकूत दृष्ट्वा पिदधति मुख तूणविवरे
निरस्त-व्यापारा भुवनजयिन पञ्च विशिखा ॥'

अत्र—स कोऽपि असामान्यप्रेमप्रणय(विश्रान्ति)प्रगल्भ-कुरङ्गदृशा निरुपमो नयन-विलास सुख वो देयात्, यद्-अभिप्रायम् आलोक्य—भुवन-जयिन कामस्य पञ्च सायका समाप्त-व्यापारा, तूणीर-विवरे (लज्जयेव) मुख पिदधति—इति-उक्ते, सुख वो देयात्, इति आशी-पदम् उचितमेव (प्रिया-नयन-विभ्रमस्य मुखाऽर्पण-योग्यत्वात्) । यथा-वा मम, वात्स्यायनसूत्रसारे—

102 ेम-पगी बाकी नजरिया को (मृगनयनी की) देख कर जैसे, इस प्रकरण उ
मे, खुद पर शरमाते—कामदेव के उन नज़ाकत के पाच तीरो ने, वापिस, तरकस मे मुह छुपा लिया और—'जो सुख तुम्हे हम देने आये थे वह तो तुम्हे पहले-ही मिल रहा है'

—'तुम्हारा **सुहाग बना रहे**' और वो विदा हो गये ?

भारती

उ 'काम काम कमलवदना-नेत्रपर्यन्त-वासी 103
दासीभूतत्रिभुवनजन प्रीतये जायता व ।
दग्धस्याऽपि त्रिपुर-रिपुणा मर्वलोक-स्पृहाऽर्हा
यस्या ऽविक्य रुचि' रतितराम् अञ्जनस्येव याता ॥'

अत्र—काम प्रीतये वो जायता, यस्य दग्धस्याऽपि अञ्जनस्य-इव अविक रुचिर् याता इति-उक्ते, श्रोतये जायतामिति उचित—कामस्य प्रीत्याऽत्मकत्वात्। न-तु, यथा अमरुकस्य—

निमेष

103 'शिव के हाथों मिट चुकने पर भी जिसकी राख (पद्ममुखी ललनाओं की उ
आंखों में काजल के मिस से) अब पहले-से कहीं ज्यादा जबरदस्त है—
'मोहिनी' है, वह कामदेव तुम्हें सदा **सुखी रखे**।'

—काम मरा कब था? वह सदा बांके-नयनों में **अ-च्युत** है!

पूर्णाहुति

प्र 'आलोलाम् अलकावली विलुलिता बिभ्रत्-चलत्-कुण्डल 104
किंचिन्मृष्ट-विशेषक तनुतरै स्वेदा-ऽम्भासा सीकरै ।
तन्वङ्ग्या सुतरा रताऽन्त-समये वक्त्र रति-व्यत्यये
तत् त्वा पातु चिराय । कि हरि-हर-स्कन्दाऽदिभिर् दैवतै ?'

अत्र—तन्व्या रति-व्यत्यये, लोल-अलक, चलत्-कुण्डल, स्वेद-सलिलेन किंचिद्-उन्मृष्टतिलक यद् मुख, तत् त्वा पातु, कि हरि-हर-स्कन्दाऽदिभिर् दैवतै' रित्युक्ते, पातु त्वाम्—इति-अनुचितम् । आनन्दयतु त्वाम्—इति-उचित स्यात् ।

परिशिष्ट

104 'छोडो इन झठे देवी-देवताओ को—हरि को, हर को, और कान्हा को ! प्र
'बाकी इठलाती लटे, डोलते कर्ण-कुण्डल, पसीने से कुछ पुछती-सी
बिदिया—मे तो कहता हू सभोग-निरति पर मेरी सलोनी' की यह
अस्त-व्यस्त चितवन--तुम्हारी **'राखी'** बनी रहे ।'

—**'रक्षक' कि सुख** 'a joy for ever' ?

यथा_व सु सहासति

अन्येषु [वा] काव्याऽङ्गेषु अनयैव दिशा स्वयम् औचित्यम् उत्प्रेक्षणीयम्। तदुदाहरणानि, आनन्त्यात्, न प्रदर्शितानि

इति-अलमतिप्रसङ्गेन।

विसर्जन

काव्यागो का वर्गीकरण शायद सभव हो, किन्तु कवि हृदय की निरन्तता का, स्रोतस्विता का, 'विवेचन' कौन कर सकता है ?

—पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा ऽवशिष्यते !

√उच समवाये

Among ancient legends there is one told of a little boy who amused himself at play by modelling clay images of sparrows Delighted with his creations he clapped his hands —whereupon the little clay birds took flight in alarm

अनुक्रमेण

पुन

-- त्रित आप्त्य --

All references are to kārikās (१-३९) or to examples discussed (1-104) with indications वृ [त्ति] and च [र्चा] here and there

A व्यासपूजा

43

सत्य मनोरमा रामा

[89 कर्णोत्तालितकुन्तलान्तनिपतत् 91 विविधगहनगर्भग्रन्थसभारभारै]

B प्रमा[ण]त्रयम्

I औचित्येन विना रुचि प्रतनुते ६वृ 2 अविरोधी विरोधी वा 47च

3 प्रज्ञा नवनवोन्मेष- 93च

C इद कविभ्य पूर्वेभ्यः

D नान्दी

a अनुश्रुति है कि, समुद्र-मन्थन की सफलता पर जब देवता रगरलियो मे मस्त थे, किसी ने जाकर असुरो को सूराख दे दिया। वो भी आ धमके[1] उस आडे वक्त विष्णु ने मोहिनी रूप धारण किया था।

अनुश्रुति के इन तीन अगो मे—1 अमृत की कल्पना हम मर्त्यो की अ-मर्त्य होने की साध का फल है, तो 11 'मोहिनी' हमारी ही प्रतिमूर्त्त हो-उठी कामुकता है, और (उसकी आखो मे) 111 काजल-स्पर्श कवित्व-बुद्धि का चमत्कार है।

b हमारे समर्थन मे स्वय क्षेमेन्द्र के 'वात्स्यायनसूत्र' से उद्धृत ये शब्द हो सकते है 'भस्मीभूत काम की राख को पार्वती ने आखो मे लगा लिया।' शिव की दुरभि-सन्धि उमसे जाती रहा। कौन कहता है काम मर चुका है?'

काम-देव ही अ-च्युत है, वही एक अ-मृत है, रस-सिद्ध हे। (अच्युत का सम्बन्ध काव्य मे—माइथालोजी मे नही—'कान्तासश्लिष्टदेहो ऽ(प्य)विषय-मनसा य परस्ताद् यतीनाम्' बम-भोले से अधिक है। Cf, here, 59 for लक्ष्मी's भीतिभ्रमत्-तारक)

c एक और प्रसग मे (59) इसी काजल (के 'द्रावक' उद्दीपन) को एक सद्य-स्नात देव-सुन्दरी की आखो से कवि ने 'धुला' दिया है क्या उसे एक शिशु के अ-बोध (अ-बुद्ध) भाव का प्र-शम बना देने के लिए?

d क्षेमेन्द्र की अञ्जन-कल्पना का मूल(स्रोत), सभवत, भामह मे उपलब्ध यह (१ ५५) पूर्वाभास है

---

१ और कहते है, तभी से औरत अपने पतियो को वश मे रखने के लिए, उनका मान भग करने के लिए (वञ्चने), 'नैनो मे काजर डार'ती आयी है।

किञ्चिदाश्रयसौन्दर्यात धत्ते शोभाममाव्वपि ।
कान्ता-विलोचन-न्यस्त मलीमसमिवाञ्जनम् ।।

E कारिका

F स्फुटत्वेन स्फुरत्

I निकषा मीमासाम्

II निकषा काव्यशास्त्रम्

G परीक्षितकारकम्

I औचित्येन

1 3 4(I+II) 5 7 8 (I+II) 11 12 15 19 20 21 23 24 26 28 30 31 33+34 36 38 40 41 43 44 45 46 48 49 51 53 55 57 59 61 63 65 67 69 71 73 74 75 77 79 81 83 85 87 89 91 93 95 97 99 100 102 103

II अनौचित्येन

2 6 9 10 13 14 16 17 18 22 25 27 29 32 35 37 39 42 47 50 52 54 56 58 60 62 64 66 68 70 72 76 78 80 82 84 86 88 90 92 94 96 98 101 104

III *Unsparing*

39 54 64 90 94 98

H. निर्विद्

I परार्धम्

I 'औचित्य-विचार' का ही एक पूरक-अंश क्षेमेन्द्र का **सुवृत्ततिलक** है जिसमें, कर्ण-बोध (अर्थात् 'श्रुति') पर बल देते हुए आचार्य ने विषय, परिस्थिति एवं मनःस्थिति के अनुकूल 'वृत्तौचित्य' का सोदाहरण निर्देश किया है। श्रुति-बोध के बिना कवि कैसे जान सकता है कि द्रुतविलम्बित में सन्धि-अभाव में ही, और वसन्ततिलका में ग्रन्थि-अभाव में ही, कमनीयता (की भूमि) निहित होती है ?

II (२) शिक्षा, व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा (कुछ चमत्कार(३), कुछ गुणदोष-विवेक (४) अधिगत करके)—अकवि भी कुछ कवित्व(१) निज में भावित कर सकता है प्रातिभ कवि की प्रवाहमयता (५) न सही, कवित्व-बुद्धि तो कुछ हासिल कर ही सकता है।

III यदि 'भावयित्री प्रतिभा' 'औचित्य-चर्चा' का विषय है, तो 'कारयित्री (प्रतिभा)' **कविकण्ठाभरण** का (शक्ति-व्युत्पत्ति)-अभ्यास (की तिस्रो देवीर् मयोभुवः) द्वारा कुछ सरसता वाणी में और जीवन में, हाँ, आ जाय—और क्या चाहिए ? किन्तु, एतदर्थ, मन का तत्त्वार्थनिवेशी होना ('औचित्य' IV–V) अनिवार्य है।

IV क्षेमेन्द्र का 'तत्वार्थनिवेश' काव्य तक सीमित नहीं था, वह लोक-गत सभी विषयों को अपना क्षेत्र बनाये था—यह उनके **समयमातृका, दर्पदलन, देशोपदेश, नर्ममाला, कलाविलास, चारुचर्याशतक, चतुर्वर्गसंग्रह, लोकप्रकाशकोश** आदि की परस्परापेक्षिता से ही सिद्ध हो जाता है। हमें तो उनकी तीनों **मंजरियों** में भी, **दशावतार** तथा **अवदानलता** में भी, वही 'एक लोक-संग्रही की व्यापक दृष्टि' ही नजर आई है।

वैसे—बहुश्रुत-ता में क्षेमेन्द्र का नाम सायण, भोज और हेमचन्द्र के साथ लिया जाता है।

V क्षेमेन्द्र का कालनिर्णय—(१) **राजतरंगिणी** में दिये अनन्तराज के समय की तुलना से, (२) आचार्य-पुत्र (सोमेन्द्र) द्वारा **अवदानकलता** की भूमिका में छोड़े संकेतों से, और (३) स्वयं **बृहत्कथा०** तथा **दशावतार** में छोड़े ग्रन्थसमाप्ति-परक निर्देशों से कुछ-न-कुछ (१०२८–६३) हो ही जाता है।

J *Notes*

१ वञ्चने दृष्टि—बाँके नैना।
अ-च्युताय=औचित्यकारिणे=25 अच्युतमूलाय (स्थितप्रज्ञाय)।

३ रसजीवित**भूतस्य** औचित्यस्य, ५ रससिद्धस्य=रसेन शृङ्गारादिना **सिद्धस्य (प्रसिद्धस्य)**[१] काव्यस्य, धातुवादरस-सिद्धस्य-**इव**, ८ सकल-

काव्यशरीरजीवितभूतस्य, १० मर्मसु-इव स्फुटत्वेन-**स्फुरत्**, (वाक्यार्थ)४ **सजीवऽ-इव** अवभासते, (9) इति-आचित्येन प्रसिद्धेन (स्पष्टेन=स्फुरता)[१], 13 लावण्य**पेशलतनुर्** ललितललना[१], 42 ओचित्यस्य जीविभूतस्य **रक्षा कुर्यात्**, ५ **स्थिरम्=स्थायि-(भाव**-वत्)[१] 48

१० मर्म, नब्ज, pulse

११ विच्छित्तिम् 1=8 छायाम्=२९ भक्तिम्।

१५ Why is a she-jackal known as शिवा (पावनी)? 16

१६ वराऽसवस्य-इव सहकारवेधेन 23, whisky hocussed (with mango-juice?) for a newer taste

30 ब्राह्मी (प्रदिष्टा) स्थिति = (ब्राह्मणोचिता निसरम्भ-गर्भा रावष्टाम्भा) स्थितप्रज्ञता=अ-च्युतभाव , cf शतपथ (१३ २ १३ ४) —

"प्रजापतिकरकामयत—सर्वान् कामान् आप्नुयाम्, सर्वा व्यष्टीर् व्यश्नुवीयेति। स एतम**श्वमेध** त्रिरात्र यज्ञक्रनुमपश्यन्। तदाह — कस्मिन् ऋतौ अभ्यारम्भ इति ?—'ग्रीष्मे अभ्यारभेतेति', उ एके आह, 'ग्रीष्मो वै—क्षत्रियस्य ऋतु, क्षत्रिय-यज्ञ उ वा एष यदश्वमेध इति' तद्-वै—'वसन्ते-एव अभ्यारभेत। वसन्तो व ब्राह्मणस्य ऋतु। यऽउ-कश्च यजते, **ब्राह्मणीभूय** यजते। तस्माद्—वसन्ते-एव अभ्यारभेत। सा याऽसौ फाल्गुनी पौर्णमासी भवति ' ।

33 कृत्त(र), शृङ्खला and किङ्किणी for neck, hands and feet, respectively

34 **पर्यन्ताऽश्रयिभिर** निजस्य सदृश नाम्न **किरातै** कृतम्, 1 e, कादिशीकै=कुतोमुखै (32)—पुरुषगणना-विहीनतया (being unmanly) धैर्यविरहकातराणाम्।

37 शुनकस्य, of the despicable dog

40 निरर्गल, cf निरर्गलगुणोचिता क्रिया २४ (निर्-बन्धनम्, as of domestic dogs with a strap)

41 त्वगप्यथ तारवी=वल्कलम्, क्षैब्य=सरूर, cf क्षीबस्येव 44

42 **विकल्प**प्रतिपादकम्=अभेद(वासना)-विरुद्धम् part self-less **धारा**ऽविरूढ-सर्वसाम्य०, flooded by an overwhelming feeling of oneness with All अवस्कर-कूट, scrapeheap

१७–१८ कुश-ल, a cook (expert in his art)

वेसवार-पानादिषु, in the curiously *'sweet, sour, samovar'* drinks and dishes

44 अनग-क्रिया, the art of love-making which leaves the other not-master of self and so becomes his or her *own undoing*

46 स्तिमितवृत्तय, timid

48 सब्बकसा all powerful, carrying everything else before it (in a sweep)

१९ सुवृत्तत्वम्, गोल-गोल गाल *or* suppleness of figure

१९–२६ क्रियादिषु औचित्यकाक्षाम् अधिकृत्य, आनन्दवर्धन —
सुप्-तिङ्-वचन-सम्बन्धैस्, तथा कारकशालिभि —
कृत्-तद्धित-समासैश्च—द्योत्यो ऽलक्ष्यक्रम क्वचित् ॥

२२ भुजमण्डली (64)?—लिङ्ग के असाधु प्रयोग ने 'सारा पौरुष ही वीर का', जैसे, हर लिया !

२३ विशेषण-माला as a befitting, be-coming grace is known as परिकर in our Rhetorics, best exemplified in Veda (whence the Nairukta School)

२४ निश्चलाङ्ग-च्छन्न-अगना-प्रबोधने सन्न ! (७०)

२६ 'काल' का भी एक अशुद्ध प्रयोग ढूढ निकाला, वह भी, त्रिकाल-विद् वराहमिहिर से ! 76

२८ उत्पत्तिर् भण्डकुले 80 क्षेमेन्द्र ने पूछा है क्या 'भण्ड-कुल भी इक्ष्वाकुओ की तरह ही लोक-विश्रुत था कि कवि ने अपने बारे मे और कुछ बताने की आवश्यकता नही समझी ?' बात शायद बडी सीधी है कि उसी 'खानदानी' मिरासी ने (जिसकी कि सब मजाक किया करते थे) शाहज़ादी से शादी करके दुनिया का मुह बद कर दिया। लेकिन (था तो मिरासी ही-न वह, आखिर)¹—दो दिन बात जब बीवी तलाक दे गई—जाते-जाते वह उसीका अपना-ही फटा-मुह बन्द करती गई !—यह, शायद उसी बन्द मुह की (रमा-रमणकी) बोलती है।

१ इसी को कहते है 'कुल-रीत' 'कुलोपचित' कुत्सा-निकाय !

२९ भक्त्या=विच्छित्या !, न च भक्तिरसेन ?—चित्रम् 'स्वयमपि लिखित स्वय न वाचयितुम्' अलम् !

३२ Cf **अभिप्राय** here with **प्रबन्धार्थ** (poet's inspiration) at १३, and with **प्रतिभा** (ready wit) at ३५, and **विचार** (second thoughts, if one could be patient *enough* to 'go deep into it all', into the वेद्यतत्त्व) at ३६

३४ फल, conclusion, essence, synopsis

91 अनेकभिन्नशास्त्रजडै, cf कालिदास's well-known jibe at प्रजापति as a वेदाभ्यासजड पुराणपुरुष (M-A)

३५ 94 वार-अवहारे=वार-वञ्चने, cf वार-अगना=वार-**वनिता** (from √वन, √षण **सभक्तौ**—to share)

३६ लटभा-भाव, puberty, *or* has it something to do with the mischief of the लटs (those 'loosening locks') with the advent of adolescence ?—Just that O Beauty ! Cf बिल्हण—केशबन्धविभवैर् लट(भ)ाना पिण्डितामिव जगाम तमिस्त्रम् (like a fleetsome, darkling, Cloud 'tween her and me!)

३७ सत्यमेव अमृतरश्मिश्=चन्द्रमास्, नेन अ-सम वैरम्।

३८ बलदेव उपाध्याय, however, defends this use of भव (101) as apt, against क्षेमेन्द्र, at p 104 of his BS, II

The argument of ३८ seems to stress the point that words necessarily, essentially, can never be synonyms Arabic, e g, has about a century of expressives for 'love'—wherein each bath a different shade and, so, is meant to be used for a different situation In Sanskrit that reminds one of Bāna's rare *le mot juste* sense—and in Bāna alone, in the whole of Indian literature, probably !

३९ आकूत=अन्दाज, अन्दाज़े-बया—102

103 Against १ and 59's suspected ref to Kamalā, note कमल(वदन)ा-**नेत्रपर्यन्तवासी** काम, यस्य रुचिर्(दग्वस्याऽपि) **अञ्जनस्येव** अतितरा-याता।

(b) सच्छाय संस्कृतेन

29

दनुजेन्द्र - रुधिर - लग्ने यम्य नख - प्रभा - विशद्रे।
गुप्यन्ती विह्वलिता गलितव्यस्तस्तनाशुका महासुरलक्ष्मी ॥

48

'त्यजत मुञ्चत, दत्त वल्लभजने दृष्टि तरगोत्तराम्,
तारुण्य दिवसानि पञ्च दश वा पीनस्तनस्तम्भनम्'
—इत्य कोकिलमञ्जुशिञ्जनमिषाद् देवस्य पञ्चेषुणा,
दत्ता चित्रमहोत्सवेन सहसा आज्ञेव सर्वकषा ॥

50

स्वर्ग–अपारिजातम्,कौस्तुभलक्ष्मीरहित मधुमथस्य– उर ।
स्मरामि   मथनपुरतो––अमुग्धचन्द्र हरजटाप्राग्भारम् ॥

K अस्ति कश्चिद् विशेष

1

Criticisms with a differencs

—a sampling only—

8 योऽयमश्व ––अत्रार्थे रामायणकथाऽतिक्रमेण रामतनयस्य सहजविक्रमानु-सारिणी परप्रताप-असहिष्णुता प्रबन्धस्य रस-बन्धुराम् औचित्यच्छाया प्रयच्छति ।

18 चिताचक्र चन्द्र —योऽथस्तु हृदयसवादी स, यदि अनौचित्यस्पर्शलेशाहितस् तत्, अधिकतराम् अलकारशाभा पुष्णाति ।

19 शीतेनोद्धृपितस्य—अत्र अनाचित्यस्पर्शपरिहारेण-केवल हृदयसवाद-सौन्दर्यमेव स्वादुतामादधाति ।
(Also cf 'कामिनी' पदपरित्यागेन, केवल जम्बुक्या कर्तृत्वेन च, etc , at 44-)

37 कृश काण खज —अत्र अशुचिवणरुचे —स्वभावजुगुप्सितयोने शुनकस्य किमेतैर् बीभत्सविशेपणैर् अतिशयनिर्बन्धानुबद्धैर् अधिकमुद्भासितम्? एतैरेव पुरुषगतैर् जगुप्सा पर गौरवमावहति ।

45 गाण्डीवस्त्रवमाजन०—अत्र अरिक्षये दीक्षासमुचितवर्णनया, शोकाग्नेश् चण्डत्वेन—
खाण्डवपदोदीरणेन—वीररसस्य अग्नि सहसैव आगन्तुके करुणरसे प्रज्वलिते ।

58 पोलस्त्य प्रणयेन—अनुचित [सम्प्रदाने] मुनेर् लोकहितप्रवृत्तस्य त्रैलोक्य-कण्टकभूताय राक्षसाय भुवनप्रतिपादनम् ।

62 तत्र स्थित स्थितिमता—सर्वतो - दिग्गमन-अविच्छिन्नप्रसर प्रताप परिमित्य प्राप्त ।

81 अत्र वल्कलजुष —अचेतनानामपि शमसमय-विमल-चित्तवृत्ति' रौचित्यमुपजनयति ।

सम्‌वियात

—just a few—

अ-कृत्रिमम् अ-सामान्य[च नाम-किल]लावण्यम् । ३३
अक्लेशेन-अभिप्रायसमर्पक वाक्य हृदयमावर्जयति। ३२–
अ-सत्त्वे सत्त्व-स्तुति अनौचित्यमावहति ।
एकस्य[ना-ऽति] विपुलाऽशयत्वात्—तृप्तिर न जाता । द्वितीयस्य तदुपजीव्य-मानस्य—न मानागपि खेद ।—कस्य न उभयोर् लज्जा ? 86–
काव्यगुणेन-अस्पृष्टा सुभटोक्ति (क्षात्रवृत्तिरिव ओजसा-अस्पृष्टा) उचितार्थाऽपि—तेजोजोवितविरहिता—दुर्गतगृह(गता)दीपशीखेव मन्दाय-माना न विद्योतते । 13–
ैवन्यस्तविपर्यय सुखशिखाभ्रष्ट प्र-नष्टो जन
प्रायस् तापविलीन-लोहसदृशीम् आयाति कर्मण्यताम् । 71
परिपोषविपरीते स्वभावविरोधिन्यपि प्रधानाऽनुपरोध एव । 47–
प्रततोत्सव—बहुजन-भोजनपक्तौ अ-परिज्ञात —स्वयमिव मध्ये-समुपविष्ट, पश्चाद्-अभिव्यक्त —पर लज्जादुर्मन-औचित्य प्रतनोति । 72–
प्रसन्नमधुरधीरा हि वीरवृत्ति । 30–
लावण्यपेशलतनुर् ललनेव परुषभाषिणी, झटिति, अनौचित्य चेतसि सचारयति। 14–
विद्यानामेव सर्वसम्पत्प्रसविनीना कुलोद्धरणक्षमत्व, न अन्यस्य। 84–
विरुद्धस्य परिपोषाभावात् । 45–
वीरस्य क्रोधे विकाराऽसभवात् ।(प्रसन्नमधुरधीरा हि वीरवृत्ति ।) 30–
शृङ्गारकरुणबीभत्सा शान्तमुखप्रेक्षिण सलीनतया—स्तिमितवृत्तयो भृत्या इव—परमौचित्य दर्शयन्ति । 46–
सकट-स्वभावस्य हि विकटत्व (विस्तीर्णत्व) नोपपद्यते । 74–
(न पीयते काव्यरस पिपासितैर्)इति—सर्वमेतद् दारिद्र्य(-दैन्य) विद्रुतधैर्य—कातरतया तत्त्व-रहित विपरीतमुपन्यस्तम् । 84–
सत्य च नित्य च यत् । 71
सारसग्रहवाक्येन काव्यार्थ —(फल) निश्चित
अदीर्घसूत्रव्यापारो—(ननु) कस्य न समत ? 34
स्वभावे सकटत्वम्, आकारे च विपुलत्व(निश्चेतनस्य)—स्वभावाऽभावाद्—नोपपन्नम् । 68–
स्वयमार्द्रस्वभाव परमपि आर्द्रीकरोति । 89–
हृदयसवादसुन्दरमपि अनुचितत्वेन सहसैव चेतसि सकोचमिव आदधाति। 18–

L औचित्याय साप्तपदीनाय

—an Aucıtya the saurus—

(a)

1 निरौचित्यमात्रकम् । अनौचित्यरजसा स्पर्श । अनुचितेन प्रवृत्ति । परमनुचितम् । विगर्हित च । —इति अनौचित्या प्रातिपदिकनि पञ्च ।

2 औचित्य, पुन ,—

a उचिताऽनुचित-बाधेन अ-मस्पृष्टम्, आदौ, शिशुरिव, अनौचित्य-परिहारेण वा, मुहुर्, यावत् पूर्व-वयसि, अनवस्थिरम्, अकृत्रिमनलकृत परस्तात् 'मदृश किल यस्य यत्'-स्वभावेन, उतरीयाशुकेनेव, मनाग्-आवृतम —**अ-परिज्ञात** (शकुन्तलेव) स्वय-राजते।

b अनन्तर, पयोधरविस्तारयित्रा यौवनेन-इव सार्धमद्यच्छत् > उद्गिरत् > स्फुटत्वेन-स्फुरत्, तद्—दृष्टममकालमेव-**स्निग्ध** द्रष्टुर् हृदय-मावर्जयति ।

c किमपि उन्मिषति, आमोदते, 'मर्वथा पुरऽ-इव परिस्फुरत् हृदयमिव प्रविशन सर्वाङ्गीणमिव आलिङ्गत् अन्यत् सवमिव तिरोदधत्' अभि त्मन व्यनक्ति ।

d परमौचिनी हि मकृदुक्थभाव-गतस्य निर्भिद्यमानस्य, सङ्क्राम्यन्ती, अभ्युदयपरम्परा—

e या किल जना अद्भुतमिति गृह्णन्ति

f सविद्य—तत्त्वोन्मीलनेन—उभयोरपि तयार् दृग्-दृश्ययोर् **एकात्म-भावेन ।**

3 अनवकाशाद्धि, अत्र, पर्याय-अनुप्रास-अर्थान्तरन्यासाऽदीना निरर्थक-निरुपयोग विरुद्धार्थ-विरसानाम्, अनु सह्नियन्ते विषमानि, आह्नियन्ते सुषमानि, विह्नियन्ते सामानि । प्रकृति-सवादित्वाच्चाऽस्य—चेतस 'ख ब्रह्म'-विकाशनी क्रिया सा काऽपि प्रवर्त्तते अन्तर्भूम्याम् ।

4 औचित्यस्य-हि 'कवि —कवेस्तद् मुख्य कर्मेति—यत्नेन रक्षा कुर्याद् (गर्भिणीव) अभिचाकशन्' इति आशशसिरे आचार्या, 'येन हि त्मन सदृशी प्रतिपत्ति कामपि औचिती सप्र'त्ताम् "ता स्वैर गवामुपनता" दृशोर्-माध्यमिकयेति ।'

5 'असत्त्वे सत्त्वस्तुति'-प्रत्याख्यानेन, उतापि, औचित्यम् आत्मन सत्पात्रा-ऽनुग्रहिणी वृत्ति ('सहारे' अश्वत्थाम्न स्थेमानमिव) प्रतिज्ञापयति। नि च अन्तर्यच्छति, ससूत्रयन्, अगमग काव्यस्य-उत-अध्येतु —अद्वैते-निष्ठया ।

इमा खलु निष्ठा—कवेश्च-रसिकस्य च—नाम्ना-अर्धाङ्गीकार (पाणिग्रहेण-यावत्), कलासु, आमनन्ति अपरे।

6 अथ सहृदयेषु अन्तर्मय-गमि (मृत्तिकासु नि-उप्त वाव बीज) तत् सचारयति भाववत्तमिव किं-स्विद् अद्भुत—वीप्साभिर् अनग-मन्मथ-क्रियाणाम् । सवीत समवाय-करणम् इत्थम्, इद तद् औचित्यम्—अगेभ्य समुत्थाय अगेष्वेव अन्तरगनामुपगतम्—उदियत् 'प्रथम सग' इव, अ-प्रतिगामित्वात्—स्थायिभावो-'व अञ्जनम्।

7 व्युत्पत्त्या—अ-च्युतम्=उचितम्=अञ्जनम् इति 'नित्य च सत्य च यत्' इति तुरीये विश्रमिण्यस् 'तिस्रो देवीर् मयोभुव (कामस्य)'। किं वा-अत्र अन्तर्मये तिरस् तद् दधीत—त शमभाव, ता स्थितप्रज्ञता, नेत्रयोस्ता लेखा, प्रकृतिरञ्जन वि-रज तद् अञ्जनम् ?
सेम् सुषुम्णा निकामे-निकामे कमला, कामिनी, कान्ता, कान्ति । अगेष्वगेषु अगिनी=अगना, अञ्जना समम्-उपस्कुर्वाणा—क्षरेषु-अगेषु (अगित्वा-ऽधायकम्-अन्तर्यामि) अक्षरम्-अनगमिति—काव्यस्य **जीवित-भूता**।
—तस्मा अञ्जनाय नऽ इय नीराजना।

(b)

तेषु-एव (नगराऽर्णव-वर्णनाऽदीना) सनिवेश-प्राशस्त्यम् अलकारऽ इति। तदुक्तम् —

ओचित्य वचसा प्रकृत्यनुगत, सर्वत्र पात्रोचिता
पुष्टि स्वाऽवसरे रसस्य च, कथामार्गे न-चाऽतिक्रम,
शुद्धि (प्रस्तुत) सविधानकविधौ, प्रौढिश्च शब्दार्थयो
विद्वद्भि परिभाव्यतामवहितै ।—एतावदेवा ऽस्तु न ॥
—यशोवर्मण, 'रामाभ्युदय'-प्रस्तावनायाम् ।

सो, ७००–८०० मे 'ओचित्य' की शब्द-दृष्टि भी उदित हो चुकी थी (कालिदास के 'आपारितोषाद् विदुषा' की भाति !)।

(c)

अर्थो गिराम् अपिहित-पिहितश्च सम्यक्
—प्रीति तनोति [मरहट्टवधूकुचा-'भ ।
नो गुर्जरीस्तनऽ-इवा' तितरा-निगूढ,
ना ऽन्ध्रीपयोधरऽ-इवा 'तितरा-प्रकाश] ॥

M औचित्य और वक्रोक्ति

भारतीय आलोचन-परम्परा मे यदि कोई आचार्य क्षेमेन्द्र के कुछ निकट पहुच सका है, तो वह है (९००–१०००)—वक्रोक्तिकार कुन्तक। अलकारो के अन्तर्यामि-सूत्र वत्, (आद्याऽलकृति के रूप मे) वक्रोक्ति का प्रथम-आभास कुन्तक को ही हुआ था, किन्तु गम्भीर अनुचिन्तन ने उसे काव्य के सम्पूर्ण अगोपागो पर व्याप्त कर दिया। सो, परिणाम यह है कि कुन्तक की पदवक्रता मे और क्षेमेन्द्र के पदोचित्य मे विभाजक-रेखा प्राय नही दीखती क्षमेन्द्र की ही भाति, (शायद आनन्दवर्धन की भाति ज्यादह) कुन्तक ने भी वक्रता को वर्ण-विन्यास मे, पद-पूर्वार्ध मे—पद-पराव मे, धातु मे—प्रत्यय मे, वाक्य-प्रकरण-प्रबन्ध मे—काव्य के सभी अगो मे प्रतिष्ठित पाया।

'वक्रोक्ति' मे अभिप्रेत 'स्वाभावोक्ति' का कोई विरोधी अलकार नही होता अत्र हि केवल—प्रसिद्ध मार्गमुत्सृज्य अन्यथा-इव उच्यते अर्थ। अन्यथेवेति किम्? —वैदग्ध्य-भगी-भणिती'ति, पर्यायेण, लोकातिक्रान्तगोचर वचनम्। न-ही कुन्तक को—स्वभावोक्ति का, एक ओर, और उपमादि-अन्य का, दूसरी ओर, अलकार-विभाजन इष्ट था।

काव्यागो मे 'सर्वातिशयेन-अभिव्याप्ति' की अन्तर्दृष्टि मे ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य के 'कोण प्राय समकक्ष ही दीखते है भेद केवल इतना ही कि क्षेमेन्द्र के वर्गीकरण मे 'काव्याङ्गेषु **च**' पर बल का अर्थ स्पष्ट है कि 'औचित्य का विलास काव्य मे एव काव्यागो मे कवि-हृदय की अन्तर्लीला की ही कुछ (टिमटिम-किन्तु-शान्त) फुरती झाकिया है, नि श्वास है।'

वक्रोक्ति-ही का नही, काव्य मात्र का, उद्भव—अभिधा का स्थूल-जगत्-त्याग— अनभिहिते' लाके' (लक्षणा-व्यञ्जना-तात्पर्य द्वारा) प्रवेश के साथ-ही शुरू हो जाता है

प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते
वाच्य-वाचक-वृत्तिभ्याम्—**अतिरिक्तस्य कस्यचित्**॥

हा—**वक्रो**क्ति स्वय वक्ता को भी (शायद कवि को भी) 'like an irony', तलाक देती-हुई सी नये ऊधम ला सकती है 'it comes *up* from the Unconscious and—*vicariously*!'

सस्कृत साहित्य-एव-शास्त्र के उत्तराधिकारी (जैसे कि वे क्षेमेन्द्र की दिशा भी नही पकड पाये थे) वक्रोक्ति को (राधा के) उपालम्भ तक ही सीमित करके रह गये प्रतीत होते है।

---

१ अजनस्य हि—अगादगाद्-अमभवित्वात्, क्रियाकल्पेन स्वस्मिन्-उपात्तत्वात्—
अनगता (cf 103) मिध्यति, न अन्यस्य ।
वञ्चने-दृष्टिर् हि सा आत्मनऽ-आचित्येन, समुपस्कृत्य, अभिजातमनसाम्-
अन्तर् विजयते —
स्वाभिप्रायसमर्पणप्रवणया माधुर्यमुद्राङ्कया
विच्छित्त्या हृदये ऽभिजातमनसाम्-अन्त किमप्युल्लिखन्
आरूढ रसवासनापरिणते काष्ठा कवीना पर
कान्ताना च विलोकिन विजयते वैदग्ध्यवक्र वच ॥
७ 'सदृश किल यस्य यदिति' लक्षणिकया वस्तुना वि-लक्षणता कामपि उद्भावयति—अम्लाना वि-लक्षिणी—कवीनाम दृक् ।
सादृश्याद् लक्षणा वक्रोक्तिरिति कुन्तक । तत्राऽपि पुन सवृति-वक्रता भवति —विवृति-पदे सह-धर्मिणीव । एतद्धि परस्तान सूरदासादिषु कूटमिति आचख्ये ।
७ सादृश्यम् = सह-दृष्टि = साहित्यम् = समदृष्टि-ता वा समेष.म् (औचित्येन) मूल्म् । तत्र प्रमाणानि—
1 आनुमानिकमपि एकेषा शरीररूपक-विन्यस्तगृहीतेर् दर्शयति च ।
(ब्रह्मसूत्रम् १ ४ १)
11 अनुरूप (स्थान) निवेशनमपि वैदग्ध्यजननम् । (यशोधर)
111 कामनीयक [हि]—अनतिवर्त्तमानस्य । (आनन्दवर्धन)
1V The boys were laughing at the right place (H G Wells)
१२ (4) वाक्यार्थ सजीवऽ-इव अवभासते—
अतह ट्ठिए वि तहसठिए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ,—
अत्थविसेसे सा जअइ विकड कइगोअरा वाणी ॥
१६ सीधुस्पर्शभयात् (23)—
पुराना विश्वास है कि वय सन्धि मे प्रतिबुद्ध कोई बाला यदि, मेहदी लगा कर, बाये पैर से अशोक को बस एक बार लताड दे या फिर अबवा की झुकती डाली पर एक 'तरुण' नि श्वास छोड दे तो उस की मुराद उसी वक्त पूरी हो जाती है
पादाघाताद् अशोक, तिलककुरबकौ वीक्षणा-ऽलिनभ्याम्,
(स्त्रीणा) स्पर्शात् प्रियगु, विकसति बकुल सीधुगण्डूषसेकात्,
मन्दारो नर्मवाक्यात्, पटुमृदुहसनात् चम्पको, वक्त्रवातात्
चूतो, गीताद् नमेरुर्, विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकार ॥
और कन्या का दोहद फलित होगया—इसका सकेत प्रकृति स्वय दे देती है

ये द्रख्त—मौसम हो, न हो—सीधे फूलो से लद जाते है ।

लेकिन आज हमारे इन्ही वृक्षो को लकवा मार गया प्रतीत होता है आज आम्र बौर देता है, फूल नही , और न-ही बाली-उमरिया मे आज वह पुराना जादू कही सुन पडता है । हा, अलबता, एक बात है जिस का प्रत्यक्ष आज भी हर कोई कर सकता है

राह-जानी किसी क्वारी को कोई मनचला छेड दे, और लडकी के होश-मज़ाक कायम रहे छोकरे के सिर पर एक ही सैण्डल काफी है—बेहया खिलखिला उठेगा (कुछ तो इज्ज़त हुई)—सनम मे मिली हर-चीज़ तोहफा है । कभी फितरत और कुदरत भी बदला करती है ? हमी ही एक ऐसी चीज़ है दुनिया-भर (की जुबानो के मुहावरो) मे जिसके, अकुर नही, फूल ही झडते है। एक प्रत्युदाहरण (94) मे क्षेमेन्द्र की 'स्वानुभूति' भी यही प्रतीत होती है वारावहारेण कामुको अ-शोकी कृत (हृत-शल्य कृतऽ इति वा !) ।

पैरो की लाली, बाकी नजरिया, बेमतलब मज़ाक, गुनगुन, इठलाना कामिनी के ये दस बाण है , और अ-शोक, मन्दार, कर्णिकार—उधर 'पहली-नजर मे ही मारी गयी' जवानी की दस दशाए है, दशाऽवतार(-चरित) है 'जवा-दिल मर-कर ही जिन्दा रहा करते है' ! सस्कृत कवि-सम्प्रदायो और अन्योक्तियो मे रस सदा इसी '**अपुरुष**-विध-ता' के आरोप का होता है।

34 **किराते** — i where to go now ?
or ii where to spend the night ?
or iii brought to bay, entrenched

37a कृश काण खज (37), **भोगे रोगभय** (40), तयो न तप्त (92)—ये तीनो श्लोक भर्तृहरि-त्रिशती मे मिलते है, किन्तु क्षेमेन्द्र उन्हे, क्रमश —चन्दक का, **मम** (११ वी सदी), तथा परिव्राजक का कह कर उद्धृत करते है । भर्तृहरि का काल क्या था ?

37b जुगुप्सा का भी 'अपना' गौरव होता है एक ही पद का परिहार-आहार किस प्रकार चीज़ का रूप ही बदल देता है इसका एक 'परम्परित' उदाहरण (जो हमे अन्यत्र किसी भी भाषा मे नही मिला, सस्कृत मे भी नही) —

दिल ते आ' दा ए—घत्त-दिवाई
गल विच हार फुला दा पो' के ।
दिल ते आ' दा **ए**—चीर-फडाई
सिर ते **लद** लकडा दा **ढो** के ।
दिल ते आ' दा **ए**—ठोक **बजाई** (कर के पुट्ठा)
बट तेरे ते कोके ।

२९ अत्र वल्कलजुप (81)—मन की शान्ति व्रत-साधना से सिद्ध नही हुआ करती, एक शान्त मन ही, उलटे, स्वभावत—गृहे-वा ऽरण्ये-वा—व्रती होता है cp these two unforgettable anecdotes —

1 एक भले आदमी ने दुनिया के प्रलोभनो से मुक्ति पाने के लिए वानप्रस्थ ले लिया।

रात होती, और एक कुहूमुखी आकर अपना राग छेड देती।

साधुजी ने भी युक्ति सोच ली। कोयल आत्मविस्मृति मे, अगले दिन, अपना सर्वस्व उडेल रही थी—जगल मे मगल ला रही थी, कि योगी जी ने फूस की कुटिया को, बाहर से, बन्द कर दिया और आग लगा दी! लोगो ने आकर पूछा—'क्या हुआ? यह आग कौन पापी लगा गया?' 'मैने लगाई थी, और किसने? कुटिया गई तो क्या हुआ, कोयल का तो कक्ख न रहा। मै खुश हू।'

11 वहावलपुर मे एक पीर रहा करते थे। मुसलमान थे। एक हिन्दू व्यपारी तीर्थ, व्यपार के लिए बाहर जाते हुए पीर साहब से आर्शीवाद लेने आया और अपना घर उन्ही के सुपुर्द करता गया।

इस अर्से मे पीर साहब खुद, दिन मे एक बार, उसके घर जाते और जो काम शहर का होता, सती के लिए, कर आते, किसी चेले से उन्होने कुछ नही करवाया।

महीनो बाद जब यह भक्त व्यपारी घर लौट रहा था, वह दूर से क्या देखता है—कि पीर साहब के कन्धे पर एक पुराना चर्खा है और वो बन्द दर पर, बाहर, चुप इन्तज़ार मे खडे है। उसका सिर श्रद्धा से झुक गया।

कुछ महीने और बीत गये। व्यपारी, एक नया मकान बनवाकर, गृह-प्रवेश के लिए फिर उसी विभूति के कदमो मे हाज़िर हुआ। पीर साहब अपने सारे 'कुल' समेत पहुचे। बतासे बाटे गये। एक बतासा पीर साहब ने भी थाली से उठा लिया, उसी वक्त एक मुहम्मदी ने अदब से जताया—'पीर साहब आज तो रमज़ान है, आप का रोज़ा है।—,'

—'रोजा तोडा जा सकता है, एक प्यारे का दिल नही' और पीर साहब ने बतासा मुह मे डाल लिया।

And, here,cf K on 'शिव-शिव-शिवेति प्रलपत' at 42

३२ अभिप्रायसमर्पकम् what in the (prehistoric ?) लक्षण-Age of Indian Rhetorics was probably known as मनोरथ —

हृदयार्थस्य वाक्यस्य गूढार्थस्य विभावकम् ।
अन्यापदेशै कथनम्—मनोरथ इति स्मृत ॥

अकदर्शनया सूक्तम्, cf—

1 **कुन्तक** व्यसनितया प्रयत्नविरचने हि—प्रस्तुतार्थौचित्यपरिहाणे—वाच्यवाचकयो (परस्परस्पर्धित्व-लक्षण) **साहित्य-विरह** पर्यवस्यति ।

ii *Aristotle's* 'perspicuity *with* propriety' or the sense *for* 'clear but, at the same time, not-vulgar'

iii नवोऽर्थो जातिरग्राम्या । (**बाणभट्ट**)

३३ अ-कृत्रिमम् अ-सामान्य[हि] लावण्य[स्य लक्षण]म्, cf—

1 *Lamborn*

On the high road near my house is a row of ancient cottages falling into decay, dark and dirty, and really-unfit for human habitation, in the daytime an eyesore and a reproach Yet, at night, when the beams of powerful car-lights fall on their tall fronts, they are transfigured and—glow with a strange and weird beauty like the glamour of a dream Art can make sad things beautiful, and sordid things wonderful

ii **रजसस्पति**—

न कृताऽल मेऽद्य गीतिर्—
भूषणैर् वसनैर् विहीना ऽलङ्कृता नो, ऽह-कृता नो, झन्-कृता नो.
—अन्तरा त्वा मा च, देव, भूषणा नो धान् व्यवा चित् !

.. मन्दमन्द यद् वदासि तत् शृणोमि सुख यथोक्तम्
—ना ऽद्य भूषा क्रेङ्कणीति ॥

त्वन्मुखे ह्री-सनत मे नश्यतीव कवेर् घ मानम् ।
भो कविन्तम, ते पदोरित् आश्रिताऽह तत्, प्रसीद—
वशिकेवा ऽह ऋजु स्याम् स्वर्मयी मा ऽन्तर् भर स्व
—देव, गीत मा कर, स्व ॥

३५ अशोकी-कृत (94), read with note on १६ (23), ante